अंक–15
ISSN 0975-5217
वर्ष 2018

# भैरवी

## संगीत शोध पत्रिका

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा ( बिहार )

भैरवी (संगीत शोध पत्रिका)
अंक–15

# भैरवी

## (संगीत शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2019 अंक 15)

**मिथिलांचल संगीत परिषद्**

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित कला संकाय
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

# भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)

**ISSN 0975-5217**

वर्ष-2019, अंक : 15

*प्रधान सम्पादक*

**प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण**

**प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्**

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

**मूल्य**

**इस अंक का मूल्य : 400/- रुपये**

**व्यक्तियों के लिए :**

वार्षिक : 800/- रुपये / त्रैवार्षिक 2400/- रुपये

पंचवार्षिक 4000/- रुपये / आजीवन : 15000/- रुपये

**संस्थाओं के लिए :**

वार्षिक : 850/- रुपये / त्रैवार्षिक 2500/- रुपये

पंचवार्षिक 4500/- रुपये / आजीवन : 16000/- रुपये

*(केवल मनी आर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट से)*
*(दरभंगा से बाहर के चेक में 40 रुपये अधिक जोड़ें)*

**''भैरवी'' विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित है। इसकी Journal No.** 44277 **है। साथ ही यह Refereed Music Research Journal** है।

सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

## प्रधान सम्पादक

**प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण**

प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

## सम्पादक मंडल

**प्रो. चमनलाल वर्मा**

अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

**प्रो. साहित्य कुमार नाहर**

पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत एवं मंचकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

**डॉ. रामशंकर**

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

**डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे**

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

**डॉ. अश्विनी कुमार सिंह**

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

**प्रो. (डॉ.) लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'**

अध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

**डॉ. वेद प्रकाश**

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

*जपात्कोटि गुणं ध्यानं ध्यानात् कोटि गुणं लय।*
*लयात्कोटि गुणं गानं गानात् परतरं नाहि।।*

(जप से करोड़ों गुणा प्रभावी ध्यान है, ध्यान से करोड़ गुणा लयात्मकता प्रभावशाली है। लय प्रधान जप से करोड़ गुणा प्रभाव गान का है और साधना के लिए गान अर्थात् संगीत से उत्तम उपाय अन्य कोई नहीं। )

***'Music is the bridge of peace and love'***

**'संगीत दो देशों के बीच शान्ति और प्रेम का सेतु है।'**

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

# संपादक की कलम से ...

आज संगीत की जरूरत इसलिए है कि बीसवीं सदी पृथकूत्व का प्रतीक बन चुकी है। बच्चे माँ-बाप से अलग और माँ-बाप परस्पर अलग, परिवार के सदस्य समाज से अलग, श्रम काम से अलग, विज्ञान कला से अलग, दर्शन धर्म से अलग, इंद्रियाँ बुद्धि से अलग और सबसे बड़ी बात यह है कि मनुष्य मनुष्य से अलग ही चुका है। अपने देश में इनके अतिरिक्त कुछ और भी विरोधाभास पल रहे हैं। प्रांत प्रांत से अलग, भाषा भाषा से अलग और अलगाव की प्रक्रिया अभी भी जारी है। फिर भी एक हम हैं कि राष्ट्रीय एकता या 'नेशनल इंट्रेग्रेशन' का नारा देते नहीं अघाते। पर यह नारा तो तात्पर्यपूर्ण तभी हो सकता है, जब हम सच्चे अर्थों में एकीकरण की बात करें, जो संगीत के माध्यम से ही संभव है। यह एकीकरण भावात्मक और आध्यात्मिक महत्त्व का है और मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबद्ध है। संगीत-शिक्षक का पहला कर्तव्य है कि वह शिशुओं और तरूणों के लिए सुबोध तो हो ही, साथ ही उसमें न अलगाव की बू हो और न ही एकता का व्यर्थ ढकोसला। वह सत्यपरक एवं धार्मिक हो। बुद्धि और भावुकता में सामंजस्य की स्थापना सौंदर्य-शास्त्र-संबंधी अनुभूतियों पर आधृत है। संगीत मानव की कल्पना, विचार एवं वस्तुनिष्ठ जगत् के बीच संबंध स्थापित करता है।

पृथकूता फैलाने में विज्ञान भी कुछ पीछे नहीं। एक समय था, जब विज्ञान और दर्शन में कोई भेद नहीं था, किन्तु ज्यों-ज्यों समस्याएँ जटिल होती गईं, विशेष तकनीक ईजाद हुए और विशेषज्ञों ने अपने अनुसंधान का दायरा संकीर्ण कर लिया। शुरू में तो सिर्फ मेके-निक्स, गणित और खगोल विज्ञान ही थे, बाद में मनोविज्ञान एवं समाज-विज्ञान जुड़ गए। अब तो सौंदर्य-शास्त्र, अर्थ-विज्ञान, भौतिक शास्त्र सभी आ गए हैं। प्रत्येक विज्ञान अनुभूति के किसी एक ही पहलू से संबंध रखता है; किंतु जैसे ही हम अंश की बात करते हैं, संपूर्ण की बात अपने-आप आ जाती है। केवल अंश को जानना सृष्टि का अपूर्ण एकांगी अध्ययन ही होगा। अतः यह काम दर्शन का है। वह श्रेष्ठतम विज्ञान के रूप में इन सभी अंगों में सामंजस्य की स्थापना कर, उनमें धार्मिक और नैतिक अनुभवों का पुट देकर सृष्टि की प्रकृति के संबंध में सामान्य निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करता है। संगीत, जो एक महान् दर्शन है, बस इसी काम को स्वर की सहायता से आगे बढ़ाता है और उसकी कहीं आलोचना नहीं होती, उसके निरीक्षण और प्रयोग व्यर्थ नहीं जाते। मनुष्य की समस्याएँ अगर बढ़ेंगी तो एकीकरण का काम और भी कठिन हो जाएगा। संगीत का दर्शन तो सभी विज्ञानों की जननी है, फिर जननी को जन्म की तकलीफ और बाद की परेशानियों से तो निपटना ही पड़ता है। मानव के भावात्मक जीवन में संगीत का बड़ा महत्त्व है। मानव-मस्तिष्क से वैमनस्य को हटाकर शांति एवं सहमति की स्थापना करना ही इसका उद्देश्य है। आदि-मानव दिन-भर की थकान के पश्चात् नृत्य एवं संगीत में ही राहत की साँस लेता था। लय तो स्वयं ही प्रशांतक है। महान् चिंतक और वैज्ञानिक भी पियानो या बेला पर उँगलियाँ थिरकाकर अपने श्रांत दिमाग को सुकून देते रहे हैं। महाकवि शेक्सपीयर के

लिए ''द मैन हू हैज नो म्यूजिक इन हिमसेल्फ नॉर इज नॉट मूव्ड विथ कान्कार्ड ऑव स्वीट साउन्ड्स इज फिट फार ट्रैजन्स, स्ट्रैटेजम्स एण्ड स्वायल्स''।

यही कारण है कि पश्चिम में संगीत को शिक्षा-प्रणाली में अपरिहार्य रूप से स्वीकार किया गया है। स्कूलों में ही बच्चों को संगीत की मौलिक बातों की जानकारी दी जाती है। उद्देश्य होता है, बच्चों को गिरिजा-घर के संगीत में भाग लेने की प्रेरणा देना या फिर धार्मिक गीतों को गाने में प्रवीणता हासिल कराना। प्राचीन भारत में भी छात्रों को वैदिक गीत गाने की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी और इस शिक्षा का बच्चों के जीवन पर आध्यात्मिक प्रभाव पड़ता था। इसके बाद ही विशेष प्रकार की सांगीतिक शिक्षा उन छात्रों को दी जाती थी, जो इस दिशा में विशेष रुचि का प्रदर्शन करते थे। योरोप में 'रॉयल एकेडमी ऑव म्यूजिक' और लंदन में 'रॉयल कॉलेज ऑव म्यूजिक' में आवश्यक दीक्षा देने की व्यवस्था है और उच्च शिक्षार्थियों के लिए परीक्षा की व्यवस्था भी। रवींद्रनाथ टैगोर ने शिक्षा में संगीत की अपरिहार्यता पर विशेष बल दिया था। यदि मानसिक संतुलन के लिए संगीत की शिक्षा आवश्यक है तो यह शिक्षा विद्यालय-स्तर से ही देनी चाहिए।

आज की प्रमुख समस्या सांस्कृतिक है। छात्रों की अनुशासनहीनता से प्रत्येक देश का प्रशासन क्षुब्ध और त्रस्त है। वर्तमान समय के मूल्य समाज में सुरक्षा-भावना भरने में असमर्थ हैं, किंतु फिर भी पुराने मूल्यों को व्यर्थ और बुरा कहा जा रहा है। संगीत की सम्यक् शिक्षा प्राचीन और अर्वाचीन के बीच सेतु का काम करेगी, क्योंकि 'श्रव्य' और 'दृश्य' स्मृति के माध्यम से चिर नूतन रहते हैं। यह शिक्षा ऐसी हो कि व्यक्ति क्लीव और व्यभिचारी न बनकर गंभीर उत्तरदायित्व को वहन करने योग्य बने।

मनुष्य कुछ न कुछ सोचता ही रहता है, यह विचार तरंगे ईश्वरीय कंपन की मनोजन्य झंकृति ही होती है। मन को एकाग्र कर लिया जाय और अधिक सूक्ष्म कंपनों तक पहुँचने का प्रयास किया जाय तो बड़े निर्मल दिव्य आनन्द और शांति एवं संतोषदायक विचारों का सानिध्य मिलने लगता है।

बातें तो अनवरत चलती रहेंगी। अगले अंक में पुनः मुलाकात होगी। अभी 'भैरवी' संगीत शोध पत्रिका का पन्द्रहवाँ अंक आपके समक्ष है। आशा है आपसभी पाठकों को पसन्द आएगी। मुद्रण त्रुटियों के लिए पाठकों से क्षमा चाहती हूँ।

—प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण
*संपादक*
*स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग*
*ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,*
*कामेश्वरनगर, दरभंगा 846004*
*मो. - 09430063265*
*ईमेल - npushpamji@gmail.com*

# अनुक्रम


| | | | |
|---|---|---|---|
| | *संपादक की कलम से ...* | | 7 |
| 1. | संगीत और अन्य ललित कला | डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे | 11 |
| 2. | कंठ संस्कार | प्रो. पुष्पम नारायण | 16 |
| 3. | रागाभिव्यक्ति में काकु का महत्व | डॉ. रामशंकर | 20 |
| 4. | रसूलन बाईः व्यक्तित्व परिचय | डॉ. शीला झा | 22 |
| 5. | भक्ति संगीत के प्रचार प्रसार में अनुराधा पौडवाल का योगदान वैष्णव संप्रदाय के संदर्भ में | डॉ. राजेश शर्मा, गीतूबाला | 24 |
| 6. | संगीत का मूल्यांकनः एक दृष्टिकोण | डॉ. श्रुति होड़ा | 32 |
| 7. | सूफी संगीत का भारतीय संगीत पर प्रभाव | डॉ. अजू कुमारी | 36 |
| 8. | मिथिला के लोक संगीत में मोदलता विवाह पदावली का योगदान | डॉ. बिजली कुमारी | 38 |
| 9. | संगीत और अध्यात्म | अणिमा श्रीवास्तव | 45 |
| 10. | वर्तमान समय में घरानों का महत्व | डॉ. निशा श्रीवास्तव | 49 |
| 11. | सांगीतिक ध्वनि नाद | हेमलता कुमारी | 51 |
| 12. | काकु एवं उसके प्रकार | खुशबू कुमारी | 53 |
| 13. | हिमाचली प्रदेश के मण्डी क्षेत्र की लोक गीत शैलियाँ | ऋचु कालिया | 59 |
| 14. | लोकसंगीत एवं लोकवाद्य | दीपक कुमार राय | 63 |
| 15. | आधुनिककालीन समाज एवं संगीतः एक-दूसरे के पूरक | चन्देश्वर प्रसाद कुशवाहा | 72 |
| 16. | ''वैदिककालीन समाज एवं संगीत'' | डॉ. निधि शर्मा | 79 |
| 17. | तबला वादन के क्षेत्र में 'बंदिश' की उपयोगिता एवं महत्व | डॉ. दीपक त्रिपाठी | 84 |
| 18. | सरगम एवं लक्षण गीतों द्वारा बालकों में सांगीतिक विकास | कीर्ति तिवारी | 88 |
| 19. | मानव जीवन में लोकगीतों का महत्त्व | जितेन्द्र सिंह | 93 |
| 20. | संस्थागत संगीत-शिक्षण पद्धति में महिला शिक्षक-कलाकारों की भूमिका | कु. आकांक्षा पाल | 96 |
| 21. | विदुषी गिरिजा देवी जी का चैती गायन | अंकू सिंह | 99 |
| 22. | रुहेलखंड क्षेत्र के शैक्षिक संस्थानों में शास्त्रीय संगीत - एक विचारणीय विषय | सविता चौहान | 103 |
| 23. | संगीत कला के लयात्मक तत्व सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में | डॉ. बृजरानी शर्मा | 105 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| 24. | मैथिल कोकिल विद्यापति एवं उनके संस्कार गीत | डॉ. नीरजा दास | 108 |
| 25. | संगीत, हृदय की गहराई का मापक यंत्र | डॉ. सुरेन्द्र कुमार | 113 |
| 26. | गुरमत संगीत की शबद कीर्तन चौकी परम्परा का सैद्धान्तिक स्वरूप | प्रभजोत कौर मान | 115 |
| 27. | भारतीय संगीत में अमीर खुसरो का योगदान | डॉ. ज्योति मिश्रा<br>रितिका सिंह | 119 |
| 28. | शैव परम्परा में संगीत | खूशबू कुमारी | 122 |
| 29. | शास्त्रीय संगीत और लौकसंगीत का धार्मिक मूल्य | राजीव कुमार | 127 |
| 30. | हिन्दुस्तानी रागों में गंधार स्वर का वक्र प्रयोग (ग म रे सा) | डॉ. नूतन कुमारी | 130 |
| 31. | पं. निखिल बनर्जी एवं उनकी वादन शैली | रामचन्द्र पासवान | 134 |
| 32. | संगीत चिकित्सा क्षेत्र में व्यवसाय की संभावनाऐं | डॉ. नीतू गुप्ता | 136 |
| 33. | संगीत में रस के आवश्यक तत्व | डॉ. आभा कुमारी | 138 |

# संगीत और अन्य ललित कला

**डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे**

कला सफल अभिव्यक्ति का नाम है और अनुभूति जब तक सफल न हो अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। आत्मोपलब्धि की सत्य प्रतिति का रूप विधान द्वारा सृष्टि ही कला है, गायक उसे ध्वनि से, चित्रकार रंग रेखा से, वास्तुकार ईंट पत्थर से, कवि शब्द वाक्यों से रूपायित करते हैं। बाह्य रूप कुछ भी हो उनका आंतरिक लक्ष्य एक ही है।

भारतवर्ष में कला की प्रतिष्ठा वैदिक संस्कृति के विकास काल में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। कला शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ था। यथा कलां यथा शफं ऋणं संनयामसि उपनिषदों में कला शब्द का प्रयोग किया गया है। यथा प्राचीविक् कला, दक्षिणादिक कला, उदीचीटिक् कला। कला शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शांखायन ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक आदि वैदिक ग्रंथों में प्रमुख रूप से हुआ है। कला के समानार्थी शिल्प शब्द का प्रयोग ब्राह्मण ग्रंथों तथा संहिताओं में भी मिलता है। पाणिनी रचित अष्टाध्यायी में तथा बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में जिस 'शिल्प' शब्द का प्रयोग किया है वह कलपा के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। कालिदास ने भी कला के लिए शिल्प का प्रयोग किया है। अष्टाध्यायी में जो कारूशिल्पी और चारूशिल्पी शब्द आयें हैं वे उपयोगी और ललित कलाओं के लिए प्रयुक्त किये गए हैं।

'ललितस्तवराज' के अनुसार शिव को जब लीला के प्रयोजन की अनुभूति होती है, तब महामाया, जो शक्तिरूपा हैं, जगत की सृष्टि करती है। अतः यह शिव की लीला सखी होने के कारण ललिता नाम से जानी जाती है। इन्हीं ललिता के लालित्य से ललित कलाओं की सृष्टि हुई। यही ललित कलाएं लालित्य और आनंद की निधि हैं।

वात्सायन ने 'कामसूत्र' में अंगभूत कलाओं के रूप में 64 कलाओं को निरूपित किया है। इनमें उपयोगी और ललित सभी कलाओं को सम्मानित किया गया है। शुक्रनीति में भी 64 कलाओं की संख्या दी गई है।

ललित विस्तार में पुरूष कला विषयक 86 कलाएं तथा 64 कलाओं का निर्देश दिया है। प्रबंध कोष के अनुसार कलाओं की संख्या 72 है। क्षेमेन्द द्वारा रचित 'कला विलास' ने कलाओं की संख्या सर्वाधिक निर्धारित की गई है। उपरोक्त विवरण इस मत की पुष्टि करता है कि हमारे यहां विद्वानों ने कला संबंधी साहित्य पर पर्याप्त विवरण प्रस्तुत किया है उन्होंने उपयोगी और ललित दोनों प्रकार की कलाओं को कला कोटि में रखा है।

मार्कण्डेय मुनि द्वारा रचित विष्णु धर्मोत्तर पुराण' में राजा बज्र को संबोधित करते हुए कला को धर्म, अर्थ और मोक्ष का दाता कहा है।

*कलानां प्रवरं चित्र धर्म कामार्थमोक्षदम।*
*मंगल्यं प्रथमं चैतदग हे यच प्रतिष्ठितम्।।*

कला एक जादू है जिसके माध्यम से मनुष्य की इन्द्रियां उसका मस्तिष्क सौन्दर्य के रहस्य को खोलता है। प्रकृति प्रभु की देन है, कला मानव की कृति। कला प्रकृति से प्रेरणा लेकर उसे विभिन्न रूप देती है और वास्तविकता को खोजती है। ऐसे में कला काम करने की वह शैली है जिसमें हमें सुख का आनन्द मिलता है ईश्वर प्रकृति को रचता है और

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

मनुष्य कला को उकेरता है। अतः मनुष्य जो कुछ भी सुन्दर रचता है वह कला की वस्तु कहलाती है।

कला शब्द की उत्पति संस्कृत के 'कम्' एवं 'ला' शब्दों के मिश्रण से हुई है। कम् अर्थात् आनंद, ला अर्थात् लाना। इस प्रकार कम आनंद लाती इतिकला अर्थात् जो क्रिया आनंद लाती है वही कला है।

कला का स्वरूप बंधा हुआ नहीं है। वह अपने आप में नियमों के दायरे में सीमित रहकर भी स्वतंत्र है उसे कोई बंधनों में नहीं जकड़ सकता। कला के भी अपने शास्त्र-नियम होते हैं परंतु फिर भी वह अपने आप में पूर्ण व स्वतंत्र है। कला की व्याख्या अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से की है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में - ''जो सत्य है, जो सुन्दर है वही कला है।''[1] फ्रांस के समालोचक फागुए के विचार में - ''कला भाव की उस अभिव्यक्ति को कहते हैं जो तीव्रता में मानव हृदय को स्पर्श कर सकें।''[2]

इस प्रकार कला संबंधी विचारों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि कलाकार की कल्पना सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार के विचारों को टालस्टाय ने भी अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

''कला एक मानवीय चेष्टा है, जिसमें मनुष्य अपने जीवन में साक्षात्कार की हुई भावनाओं को ज्ञानपूर्वक कुछ संकेतों द्वारा प्रकट करता है। उन भावनाओं का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है। उसमें उसकी अनुभूति होती है।''[3]

एक अंग्रेजी ग्रंथकार ने कला की व्याख्या करते हुए कहा है-

*"The art is most simply and most usually defined as an attempt to create pleasing forms. Such forms satisfy our sense of beauty."*

कला की व्याख्या करते समय मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है- ''अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति कला है।''[4]

प्रख्यात यूनानी दार्शनिक अरस्तू की मान्यता है कि कला अनुकरण है। जौन रसकिन का विचार है - ''प्रत्येक महान कला ईश्वरीय कृति के प्रति मानव के आह्लाद की अभिव्यक्ति है। ईश्वरीय कृति किसी भी प्रकार की हो उसका प्रभाव यथावत रहेगा।[5]

कला भावनाओं की अभिव्यक्ति द्वारा असुन्दर को सुन्दर बनाने वाली एवं प्राणदायिनी गंगा है। परंतु प्रायः विद्वानों को कहते सुना गया है कि इस संसार में कोई भी वस्तु असुन्दर नहीं है समस्त संसार ही सुन्दर है। वास्तव में देखा जाये तो कला ही है जो असुन्दर को सुन्दर बनाती है। कला और सौन्दर्य का होना आवश्यक समझा गया है जिसमें सौन्दर्य नहीं उसे लोगों ने कला माना ही नहीं। यदि कला शरीर है तो सौन्दर्य उसका प्राण है। कला की परिभाषा बताते हुए कहा गया है कि ''किसी कार्य को सुन्दरता के साथ करना ही कला है।[6]

मानसिक दृष्टि से आह्लादकारक चेष्टाएँ मनुष्य के भाव जगत को निरंतर सरलता और सुन्दरता प्रदान करती रही है। इस प्रकार कर्म कुशलता ही कला है। कला में जीवन के तत्वों को दर्शाया जाता है। प्रकृति और कला का तथा प्रकृति और कलाकार का अटूट संबंध बताया गया है। प्रकृति और कला एक दूसरे की सहयोगी है। प्रकृति ईश्वर की देन है और कला मानव निर्मित है। जैसे विद्युत छटा, प्रभात काल में उषा की लालिमा, सूर्य किरणों का कलोल मुक्त आकाश में पक्षियों का चहचहाना या तारों से भरा आसमान, समुद्र के मस्तिष्क पर सूर्य की किरणों का प्रतिबिम्ब, फूलों का घूंघट खुलते ही भंवरों का गुनगुनाना ये सब प्रकृति की देन है। इसी सौन्दर्य को रंगों से कागज पर उतार लेना या अपनी मधुर वाणी के माध्यम से पेश करना ये सब कला है। इस प्रकार प्रकृति और कला दोनों एक दूसरे की सहायक हैं। प्रकृति कला को प्रेरित करती है और कला प्रकृति का सच्चा रूप लोगों पर प्रकाशित करती है। कला भावों की उस अभिव्यक्ति को कहा गया है जो मानव हृदय को तीव्रता से स्पष्ट करें। कला सुन्दरता का अविष्कार है अर्थात् जिस कला से आनंद का अनुभव हो और जिस कला से मन में उच्च भावनाएं उत्पन्न हों वही सच्ची और देर तक रहने वाली कला है। कला और जीवन का चोली-दामन का साथ है। जीवन के उत्कर्ष के लिए कला एक मार्ग-दर्शक है।

विश्वव्यापी इस कला में मुख्यरूप से कुछ कलाएं अनेक कारणों के परिणामस्वरूप केवल कला न रहकर ललित कला बनी है। आज कलाओं में हम ललित कला को प्रधानता देते हैं। ललित का अर्थ है—सुन्दर अर्थात् वह कृति जिसमें सुन्दरता का अविष्कार हो और जिससे रस की निर्मिति हो, जिससे निर्माता और उसे देखने वाले दोनों का आनंद का अनुभव हो।[7]

मधुरता, आकर्षण, सौन्दर्य, सहजता, सरलता, सूक्ष्मता, प्रासाद, ओज, प्रवाह आदि बातें लालित्य के अंतर्गत रखी जा सकती है। लयात्मकता लालित्य के विशेष गुणों में गिनी जाती है। किसी भी वस्तु में इन उपर्युक्त गुणों में से एक गुण का भी अभाव हो तो उसके लालित्य में अंतर आ जाता है। ये सारी बातें जिस कला में सम्मिलित हों उसे ही ललित कला कहा जाता है।

कला फिर वह कोई भी हो उस का उद्देश्य मुख्यतः कलाकार के भाव संवेगों को सौन्दर्यपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करना है जिससे सौन्दर्य निर्मित हो सके। सौन्दर्य का निर्माण भी तभी और उसी कला से हो सकेगा जिसमें लालित्य का समावेश होगा।

मुख्यतः ललित कलाएं पांच मानी गई है :-

1. संगीत कला
2. काव्य कला
3. चित्र कला
4. मूर्ति कला
5. वास्तु कला

संगीत, काव्य, चित्र, मूर्ति या वस्तु कोई भी कला ऐसी नहीं जो ईश्वरीय आनंद की अनुभूति कराने में पीछे हो। सभी कलाएं अपने आप में श्रेष्ठ मानी जाती है। किसी भी कला की किसी दूसरी कला से तुलना नहीं की जा सकती।

ललित कला का मुख्य गुण उसकी नवीनता माना गया है। प्रत्येक दिन कला का नवीन रूप हमारे सामने आता है। कला अनेक रूपों और कारणों से प्रकट होती रहती है। पाश्चात्य विद्वान कला को केवल कला के लिए मानते हैं (आर्ट फार आर्ट सेक) परंतु पूर्व के विद्वान कला आत्मा के लिए मानते हैं। कला हर परिस्थिति में, हर काल में, अलग-अलग दिखाई पड़ती है। कलाकार ने अपने अंतःकरण के भावों को व्यक्त करने के लिए कला का सहारा लिया और सभी भूले-भटके समाज को नई दिशा देने, यानि किसी बात की प्रेरणा प्रदान करने के लिए कला को साधन बनाया।

आदि मानव या प्रागैतिहासिक काल की कला मनुष्य के भावों की अभिव्यक्ति का मुख्य साधन थी। आधुनिक समय में ही कला का मुख्य उद्देश्य अनुभूति कराना माना गया है। आज भी भावों की अभिव्यक्ति कला में होती है। परंतु भाव की स्पष्टता ही नहीं वरन् आनंद की प्राप्ति भी कला का प्रमुख उद्देश्य है।

यद्यपि कलाओं द्वारा उत्पन्न आनंद और सौन्दर्य में गुणात्मक अंतर करना संभव नहीं फिर भी कुछ विद्वानों ने ललित कलाओं में संगीत कला को श्रेष्ठ माना है। कला की श्रेष्ठता का आधार, माध्यम उसकी अमूर्तता माना गया है। जिस कला का मूर्त आधार जितना कम या माध्यम जितना कम हो वह कला श्रेष्ठ मानी जाती है।

इस दृष्टि से सभी कलाओं में वास्तुकला अंतिम श्रेणी में आती है। कारण यह है कि इनमें माध्यमों की बहुतायत रहती है। ललित कला वास्तु कला के द्वारा भावाभिव्यक्ति के लिए किसी सुन्दर भवन का निर्माण किया जाता है जिसके लिए धन, समय का व्यय व ईंट पत्थर, गारा चूना, हथौड़ी, छैनी आदि यंत्रों की आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि वह कला बनने के पश्चात् सुखदायक व आंखों को संतुष्ट करने वाली होती है परंतु माध्यमों की अधिकता होने के कारण अन्य कलाओं की अपेक्षा इसका स्थान निम्न कोटि का है। उसी प्रकार मूर्तिकला द्वारा भावनाओं की अभिव्यक्ति के नमूने भारतीय मंदिरों, कलावीथियों, आर्ट गैलरीज, सरकारी भवनों आदि में निर्मित भारतीय संत-योगी, धार्मिक नेता, योद्धागण बलिदान देने वालों और कलाकारों की मूर्तियों के रूप में देखे जा सकते हैं। इन कलाओं को समझने के लिए दर्शक में अनुभव व ज्ञान की आवश्यकता होती है। मूर्तिकला में मूर्त, आधार, पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी आदि के टुकड़े होते हैं जिन्हें मूर्तिकार कांट-छांट कर अपने विशिष्ट आकार में परिणित करता है। यद्यपि इस कला में वास्तुकला जितनी जगह की आवश्यकता नहीं फिर भी अन्य

कलाओं जितने कम माध्यम से इसका काम नहीं चलता इसलिए इस कला को वास्तुकला से उच्च स्थान प्राप्त है।

## ललित कलाओं में संगीत की श्रेष्ठता

गायन, वादन और नृत्य की त्रिवेणी में संगीत सर्वश्रेष्ठ ललित कला मानी जाती है। यह मानव जीवन का अभिन्न अंग है। स्वर जिसका कोई आकार नहीं, जिसका कोई रंग नहीं, जिसके परिमित संसार में जन कलाकार और श्रोता खो जाते हैं, तो सूक्ष्मता ही हद पार करने लगते हैं। भाषा के भंडार से चुने हुए केवल सात स्वर असंख्य रोगों के जन्मदाता बन जाते हैं। क्या ये सूक्ष्मता की हद नहीं? इतनी कम सामग्री और इतना असीमित संसार। स्वर का साथ देती हुई लय जब ताल में बंध जाती है तो वही कंपन सुनने और सुनाने वाले की हृदय की धड़कन बन जाती है। यही कारण है कि संगीत का जादू जड़-चेतन, जीव-जन्तु प्रत्येक पर अपना अधिकार बना लेता है।

संगीत का मूल आधार नाद हैं नाद अपने आप में पूर्ण है उसे किसी बाह्य अमूर्त आधार की आवश्यकता नहीं। संगीत में गायन, वादन और नृत्य का समावेश माना जाता है। वादन और नृत्य में यद्यपि उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। परंतु गायन में किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह मानव कंठ से सहज ही बिना किसी आधार के उत्पन्न हो जाता है इसीलिए गायन को परमतत्व के निकट माना है।

जहां उन कलाओं की वाणी हृदय की सूक्ष्मतम भावनाओं की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ होती है वहां संगीत कला सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को प्रकट करने में समर्थ है। संगीत द्वारा उन भावों को भी पूरी समग्रता के साथ, व्यक्त किया जा सकता है जो कल्पनातीत है। संगीत कला अपनी इसी शक्ति के कारण लोगों को शताब्दियों से आश्चर्यचकित करती आ रही है।

चित्रकला को वस्तु कला और मूर्ति कला जैसे कठोर माध्यमों की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें चित्रकार रंगों, तूलिका व कैनवास आदि माध्यमों का आधार लेकर भावों की अभिव्यक्ति करता है। चित्रकार को अपनी कला की सूक्ष्मता को दिखाने के लिए मूर्तिकार से अधिक कौशल से काम लेना पड़ता है।

काव्य कला को मूर्तिकला एवं चित्रकला की अपेक्षा अधिक महत्व प्राप्त है। काव्य कला माध्यम है भाषा, शब्द। इन दोनों की ही सहायता से काव्य-निर्मिति होती है। इसमें मन के भावों को व्यक्त करने के लिए शब्द की आवश्यकता होती है। काव्य का यह शब्द समूह भिन्न व्यक्ति समूह के लिए भिन्न-भिन्न होते हैं। इन्हीं संकेतों से भाषा चलती है अर्थात् प्रत्येक समाज में भाषा अलग-अलग होती है। इस कारण प्रत्येक भाषा का साहित्य प्रत्येक समाज में समझा नहीं जा सकता अर्थात् यहां काव्य को समझने के लिए भाषा की सीमितता उत्पन्न हो गई। शब्दों को भावों का प्रतिनिधित्व दिया गया है जब भावों के इन प्रतिनिधियों से बनने वाली भाषा का बंधन काव्य में आ जाता है तब उसका माध्यम भी स्थूल बन जाता है। शब्द मानव निर्मित है। वे अपने आप में पूर्ण नहीं है। शब्द यद्यपि वाणी के नाद से संबंधित है फिर भी काव्य में शब्दों का सहारा होने के कारण मूर्त माध्यम का आधार पूर्ण रूप से छोड़ा नहीं गया है। इस कारण काव्यकला यद्यपि वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला से उच्च है, परंतु सर्वोच्च नहीं है। साहित्य में भले ही ललित साहित्य का सर्वोच्च स्थान माना गया है। साहित्य की अपेक्षा संगीत की श्रेष्ठता में यह कहा जा सकता है कि काव्य में अनेक संतुलित शब्दों के योग से जिन भावों की सृष्टि होती है, संगीत में उन्हीं भावों को कुछ स्वरों द्वारा प्रकट किया जा सकता है। यद्यपि गायन में शब्दों का प्रयोग किया जाता है पर संगीत के अंतर्निहित भावों के स्पष्टीकरण अथवा श्रोताओं के हृदय में रस उत्पन्न करने के लिए हर समय शब्दों का सहारा लेना आवश्यक नहीं होता। श्रोताओं को प्रभावित करने में एक कुशल वादक भी उतना ही समर्थ होता है जितना एक कुशल गायक।

अन्य कलाओं की अभिव्यक्ति का आधार प्रायः स्वयं संवैद्य (स्वयं अनुभव करने योग्य) न होकर परसंवैद्य होता है। अतः उन कलाओं में कलाकार हमारे सामने जिस सत्य का प्रकटीकरण करते हैं

उनका संबंध हमारे मन से नहीं अपितु हमारे बुद्धि मात्र से होता है। अतः उन कलाओं के साथ अंतर्भूत होना अनिवार्य नहीं। परंतु संगीत का विषय श्रोता का अपना ही अंतःकरण है। संगीत के अंदर ताल से चलनेवाली नियमित गतियों का आत्मा से निकट संबंध है। यही कारण है कि संगीत में जो लोच, माधुर्य है वह हमें बाह्य जगत से खींचकर अंतर्मुखी बना लेता है और हम चरम आनंद में लीन हो अपना अस्तित्व कुछ समय के लिए भूल जाते हैं।

इन्हीं कारणों से संगीत कला को ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। संगीत की भाषा विश्व की भाषा है। जहां भाषा मूक हो जाती है वहां संगीत की भाषा मानव मन की स्वाभाविक अनुभूतियों को प्रकट करने में समर्थ होती है। इस प्रकार कलाओं के मूर्ताधार तथा माध्यम को देखते हुए संगीत कला को सर्वश्रेष्ठ मानना पड़ता है।

## संदर्भः-


1. दास कुसुम, भारतीय कला परिचय, पृष्ठ 1
2. दास कुसुम, भारतीय कला परिचय, पृष्ठ 1-6
3. संगीत कला विहार, अप्रैल, 1977, पृष्ठ 174
4. संगीत कला विहार, अप्रैल, 1977, पृष्ठ 174
5. लाल चिरंजी, कला के मूल तत्व, पृष्ठ 1
6. संगीत कला विहार, मई, 1969, पृष्ठ 25
7. संगीत, नवंबर, 1974, पृष्ठ 29

# कंठ संस्कार

**प्रो. पुष्पम नारायण**

कण्ठ संस्कार मूलतः विज्ञान की एक शाखा है। जिसके अन्तर्गत हम आवाज़ के विभिन्न पहलुओं पर विचार करते हैं। यह जानने का प्रयास करते है कि गायन को और प्रभावशली बनाने के लिए आवाज़ का किस प्रकार प्रयोग किया जाए, अथवा ऐसी कौन सी तकनीक अपनाई जाये जिससे प्रस्तुतिकरण में भिन्न्ता आये और सौन्दर्यानुभूति के अन्तिम चरण को पाये।

सांगीतिक परिप्रेक्ष्य में शास्त्रीयता का अध्ययन करना व गायकी का विषय-विस्तार जानना दो अलग अलग बाते हैं। जहां हम शास्त्र को जानने के लिए संगीत विषय से सम्बंधित संगीत के विज्ञान को समझने का प्रयत्न करते हैं राग, बंदिश, ताल, लय आदि पर विचार करते हैं वहीं गायन सम्बन्धी अध्ययन के लिए हम आवाज़ लगाने के सही तरीकों, आवाज़ को प्रभावशाली बनाने के तरीकों आदि पर विचार किया करते हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत में आवाज को बेहतर बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के अभ्यासों के तरीकों का वर्णन होता है जैसे अलंकारों का सही ढ़ग से रियाज़ करना, आकार द्वारा सही स्वर लगाने का प्रयत्न करना, स्वरों को सही विधि से साधना, एक-एक स्वर पर विराम दे कर उनका विधिवत प्रयोग करना आदि। इन विधियों का नियम से प्रयोग करने से गायक के कण्ठ का भली-भांति विकास होता है व आवाज़ में माधुर्य आता है, जिससे प्रदर्शन और अधिक प्रभावशाली बनता है।

कण्ठ संस्कार को जानने के लिए यह जानना अत्यन्त महत्व रखता है कि इसकी आवश्यकता क्यों पड़ी, इसका प्रादुर्भाव कहाँ हुआ आदि। यह जानने के लिए इस पर विचार करना आवश्यक है। सर्वप्रथम भारतीय परिप्रेक्ष्य में कण्ठ संस्कार का वर्णन प्रस्तुत है।

## भारतीय परम्परा-

मानव शरीर को 'गात्र-वीणा' अथवा 'शारीरी-वीणा' कहा गया है। जब शरीर से कोई ध्वनि निकलती है तो उसकी प्रक्रिया वही होती है जो एक वाद्य के द्वारा सम्पन्न होती है। शरीर से निकलने वाली ध्वनि को स्वर कहा जाता है और जब शरीर के द्वारा निकलने वाली ध्वनि को संगठित कर के किसी निश्चित 'pitch' अथवा सप्तक पर प्रसारित किया जाता है तो माधुर्य के कारण उसे स्वर की संज्ञा प्राप्त हो जाती है।

मनुष्य की आवाज़ कैसी भी मोटी, पतली, कर्कश अथवा विश्रृंखल हो, उचित साधना और संयम के द्वारा उसे सुरीला और आर्कषक बनाया जा सकता है। वैदिक काल में ब्रह्मचर्य-आश्रम में जब बालकों को वेद-पाठ की शिक्षा दी जाती थी तो उसी के माध्यम से उनका कण्ठ स्वतः संस्कारित हो जाता था। उदात्त (ऊँचा), अनुदात्त (नीचा) और स्वरित (सम) स्वरों के प्रयोग द्वारा उच्चारित किये जाने वाले मन्त्र तभी सार्थक होते थें जब उन्हें निश्चित ध्वनियों पर, निश्चित परिमाण में और निश्चित लय घातों द्वारा प्रयुक्त किया जाये। इससे यह स्पष्ट होता है कि ध्वनि विज्ञान के पूरे तथ्य सामगान में निहित थे। इसलिए भारत में कण्ठ संस्कार का कोई अलग शास्त्र विकसित करने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि. वि., दरभंगा।

भारत में संगीत के विभिन्न घरानों में अलग-अलग ढ़ग से स्वर विकास की परम्पराएँ विकसित हुई। प्रत्येक घराने में स्वर लगाने का ढ़ंग, आवाज बनाने का ढ़ंग आदि अलग होता है। प्रत्येक घराने में अभ्यास करने का ढ़ग भी भिन्न होता है। जिससे अमुक घराने के व्यक्ति का कण्ठ घरानागत विशेषताओं के अन्तर्गत संस्कारित होता रहता है। यही कारण है कि प्रत्येक घरानों के गायकों के कण्ठ स्वर में अलग-अलग विशेषताएं दिखाई देती हैं व उनका प्रभाव भी अलग ढ़ग से पड़ता है। यह भी कहा जा सकता है कि भारत में जितने भी घराने हैं कण्ठ संस्कार से सम्बंधित उतनी ही पद्धतियाँ यहाँ प्रचलित है।

यह सार्वभौम सत्य है कि भारतीय कण्ठ संस्कार का मूल ओंकार की ध्वनि में निहित है, जो भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्राण है। यह ओंकार साधना ही भारतीय परिप्रेक्ष्य में 'षड्ज या खरज' साधना कहलाती है, जिस पर सभी एकमत हैं।

## पाश्चात्य परम्परा-

कण्ठ संस्कार अथवा कण्ठ साधना मूलतः एक पाश्चात्य अवधारणा है। अंग्रेज़ी में इसे 'voice culture' कहते हैं। इसकी परिभाषा इस प्रकार है- "Properly trained voice which is useful for music"[1] सर्वप्रथम तेरहवीं शताब्दी के लगभग पाश्चात्य जगत में ध्वनि की विविधता और उसके विज्ञान को जानने के लिए मनुष्य का मन आकर्षित हुआ। जिसमें विभिन्न वैज्ञानिकों ने अपने-अपने सिद्धांतों को प्रस्तुत किया। सांगीतिक परिप्रेक्ष्य में सर्वप्रथम 'Magister Lambertus' ने गले को सिकोड़ कर और फैलाकर गायन प्रस्तुतिकरण पर आधारित अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया। वह वैज्ञानिक थे अथवा संगीतज्ञ इस बात पर अनेक अपवाद हैं। सन् 1450 में 'फ्लेमिश स्कूल' का उदय होने पर पहले मन्द्र और अति-मन्द्र सप्तक की गंभीर ध्वनि को ढूँढा गया। सत्रहवीं शताब्दी में 'ऑपेरा' के प्रचार के साथ ध्वनि के विविध रूप भी प्रचलित हुए। उनीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक तरीकों से ध्वनि का अध्ययन किया गया जिसके प्रवर्तक 'Manuel Garcia' (1805, 1906) थे। 1840 ई. में इन्होंने अपनी विचारधारा 'French Institute' के समक्ष रखी, जिसका प्रचार 1747 ई. से इनके अनुयायी 'Jenny Lind', Maithilde Marchesi', और 'Julius Stockhausen' आदि के द्वारा हुआ। 'Garcia' ने 101 वर्ष की उम्र पाई, अतः उन्होंने उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के बड़े संगीतकारों के उदय और अस्त को देखा। ध्वनि विज्ञान से सम्बन्धित इनके अनुसंधान का लाभ संगीतकारों की अपेक्षा शरीर शास्त्रियों को अधिक मिला। परिणाम यह हुआ कि संगीत जगत में इनकी शिक्षा प्रणाली और अनुभवों को इनके सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक मान्यता मिली।

वैसे तो भावनाओं का वैज्ञानिक या तथ्यात्मक विश्लेषण सम्भव नहीं है। इसलिए कण्ठ संस्कार से सम्बन्धित जो तथ्य बताये गए व अधिक कारगर सिद्ध नहीं हुए। हाथों को कन्धे तक उठाने की बात तकनीकी रूप से बताई जा सकती है परन्तु उसमे जो लोच उत्पन्न करना है उसे भाषा, तथ्य व तकनीकी विश्लेषण द्वारा नहीं समझाया जा सकता है। इसे सही ढ़ग से समझने के लिए इस उदाहरण को ले सकते हैं कि जब कोई बच्चा रोता है तो उसकी ध्वनि कर्कश होती है लेकिन प्रसन्नता के समय उसकी वही आवाज़ मधुर हो जाती है। इसमें मुख्य बात यह है कि कर्कशता व मधुरता का केन्द्र उसके मस्तिष्क में है जो सहज रूप से बिना किसी प्रयास के स्वयं संचालित होता रहता है। यह केन्द्र सभी जीवित प्राणियों में होता है, इसलिए तनाव-रहित होकर आवाज़ निकाली जाए तो निश्चय ही वह ध्वनि मधुर प्रतीत होगी अथवा कण्ठ से मधुर आवाज़ निकलेगी और उसे सुधारने की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। विद्वानों ने ये सोच कर ही कहा है कि यदि ध्वनि हमारे मन-मस्तिष्क के भावों का प्रतीक है तो हमारे मन-मस्तिष्क के भाव भी ध्वनि के प्रतीक है।

इससे यह प्रश्न सामने आता है कि यदि उपरोक्त कथन सत्य है तो सभी लोग मधुर आवाज़ में क्यों नहीं गाते?

इसका उत्तर यही हो सकता है कि स्नायविक तनाव (Neurosis) हमारी अमधुर आवाज़ के लिए जिम्मेदार है, इसी प्रकार खराब ध्वनि से हमारे स्नायु का तनाव और अधिक बढ़ता है अर्थात् दोनों आपस

में अन्योन्याश्रित होकर एक दूसरे को हानि पहुंचाते रहते हैं। यही कारण है कि स्वर-साधना में तनाव रहित एकाग्रता आवश्यक है। शरीर सदैव विचारो से संचालित रहता है और कभी-कभी शरीर की स्थितियों के अनुसार हमारे विचार बन जाया करते हैं। आवाज़ का सुरीलापन बढ़ाने के लिए एक सुझाव मात्र है।

कण्ठ संस्कार के लिए अधिकतर वैज्ञानिक प्रयोग पाश्चात्य में हुआ है। पाश्चात्य विद्वानों ने गाते समय श्वास-क्रिया कैसी हो इसके लिए कई विधियाँ बताई है। जैसे- 'upper chest breathing', middle chest breathing' तथा 'diaphragmic breathing'। इनमें 'diaphragmic breathing' को गायन के लिए सर्वश्रेष्ठ पाया गया है।

भारत में प्रायः बैठकर गाने की प्रथा है। इसमें शरीर स्वतः कुछ आगे की ओर झुक जाता है। जिसके कारण पेट की मांसपेशियाँ सिकुड़ जाती है और फेफड़े दब जाते हैं, शरीर में एक अनावश्यक तनाव पैदा हो जाता है, जिससे गाने में थोड़ी कठिनाई होती है। यदि मेरुदण्ड सीधा रखा जाए तो ॅफेफड़ों को पूरी तरह फैलने का अवसर मिलता है जिससे गायन क्रिया करना अधिक सहज हो जाता है। पश्चिम में कण्ठ संस्कार का प्रादुर्भाव हुआ। शरीर विज्ञानियों की सहायता से उन्हें कण्ठ की रचना का ज्ञान हो गया था, किन्तु ध्वनि-निर्माण और उससे उत्पन्न गुण-दोषों के बारे में वे प्रायः अनभिज्ञ रहे। चिकित्सा विज्ञान के कारण यह सिद्ध हो गया था कि आवाज़ का निर्माण भी शरीरिक क्रियाओं की तरह ही संचालित होता है। प्रत्येक मांसपेशी अपनी विरोधी मांसपेशी की मदद से ही कार्य करती है।

'आवाज़ के निर्माण में सहयोग देने वाले अवयवों के लिए डॉ. डी. स्टेनले ने जो सिद्धांत प्रस्तुत किया वह उपयोगी सिद्ध हुआ। उन्होंने इसे तीन वर्गों में वर्गीकृत किया है-

1. गति प्रदान करने वाला (Actuator)
2. आन्दोलन उत्पन्न करने वाला (Vibrator)
3. गूँज उत्पन्न करने वाला (Resonator)

गति देने वाले अवयवों में श्वसन-संस्थान (Resipiratory System) के सभी अंग प्रमुख हैं। डायफ्राम एवं पीछे की निचली पसलियों के पिजरे में स्थित रहते हैं। जहां पर पसलियाँ समाप्त होती हैं वहाँ से पेट का भाग शुरू होता है और यहीं पर डायफ्राम होता है जो फेफड़े और उसके आस-पास के अंगों को पेट के अंगों से अलग करता है अर्थात् विभाजन कार्य करता है। जब व्यक्ति सांस लेता है तो फेफड़े फूलकर अधिक स्थान लेते हैं। डायफ्राम फेफड़ो के फूलने से दबकर नीचे आ जाता है। पीछे की निचली पसलियाँ भी अन्दर के दबाव से बाहर की ओर आ जाती हैं। यहाँ डायफ्राम तथा नीचे की पिछली पसलियों को एक-दूसरे के विरोध में कार्य करने वाली पेशियों के रूप में ले सकते हैं। जैस ही श्वास बाहर आती है तो पसलियाँ अपने स्थान पर लौट आती हैं और उनके दबाव से डायफ्राम भी अपने पूर्व स्थान पर लौट आती हैं और उनके दबाव से डायफ्राम भी अपने पूर्व स्थान पर आ जाता है। ये दोनों स्नायु-समूह, जो एक-दूसरे के विरोध में कार्य करते हैं, यदि आवाज़-निर्मिति के समय पूर्णतः संतुलित रहीं तो कार्य सहज और कष्टरहित होता है। यह तभी सम्भव है, जब उच्छ्वास और निःश्वास के समय तनाव सही रूप में रहे।'[1]

'स्वर-यंत्र 'cartilage' का बना एक डिब्बा होता है जो श्वास-नली के ठीक ऊपर स्थित होता है। इसमें तीन 'cartilage' और दो 'vocal chords' होते हैं। ये तीनों क्रमशः 'thyroid', 'cricoid' और 'arytenoid' हैं। 'Arytenoid certilage' भी संख्या में दो होती है, तथा 'vocal chord' एक सिरे पर इनसे जुड़े रहते हैं। इसका दूसरा सिरा 'thyroid cartilage' के साथ मजबूती से जुड़ा रहता है। 'Thyroid cartilage' को हम गले पर छू-कर महसूस कर सकते हैं। स्वर-यंत्र 'thyroid cartilage' द्वारा पूरी तरह से ढका रहता है। इस 'cartilage' के नीचे अंगूठी के आकार की 'cricoid cartilage' स्थित होती है। 'Thyroid cartilage' और 'cricoid cartilage' के बने डिब्बेनुमा स्थान के भीतर पीछे की ओर दोनों 'arytenoid cartilage' स्थित होते हैं। 'Vocal-chord' इन्हीं के साथ जुड़े रहते हैं। दोनों 'arytenoid cartilage' के मध्य में 'arytenoid muscles' हैं, जो 'thyro-arytenoid' की विरोधी

पेशी है। 'arytenoid' मांसपेशी के खिचाव के कारण 'vocal-chords' खिंचते हैं और करीब आ जाते हैं। 'Vocal-chords' के मध्य का भाग जो 'glottis' कहलाता है, इनके करीब आने पर बंद हो जाता है और श्वास का अन्दर आना या बाहर निकलना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार 'glottis' एक 'volve' का कार्य करता है। जब हम गाते या बोलते हैं तो 'glottis' करीब-करीब बन्द हो जाता है और 'vocal-chords' कुछ ऐसे संतुलन में खिचें रहते हैं कि स्वर-नियंत्रण स्वतः ही हो जाता है।'[1]

यहाँ यह महत्वपूर्ण है कि 'vocal-chords' स्वयं कुछ नहीं करते। उनको गतिशीलता प्रदान करने वाली 'thyro-arytenoid muscles' हैं जो 'vocal-chords' में ही स्थित होती हैं तथा स्वर-नियंत्रण में सर्वाधिक सहायता करती है। यदि ये मांसपेशियां गलत तनाव ले लें, तो आवाज़ दोष-पूर्ण निकलती है। यह गले के लिए भी हानिकारक है। 'Arytenoid muscle' के तनाव लेने पर 'vocal-chords' के खिंचने से 'glottis' बन्द हो जाता है तथा श्वास-नली में से आने वाली वायु के दबाव से 'vocal-chords' आन्दोलित होते हैं और इस प्रकार आवाज़ उत्पन्न होती है।

'डॉ. डी. स्टेनले ने बात-चीत और गायन में उपयुक्त आवाज़ को अलग-अलग माना है, वे इनमें कुछ अन्तर बताते है जो इस प्रकार हैं-

1. गायन में उच्चरित स्वर बात-चीत के स्वर की अपेक्षा अधिक लम्बा किया जाता है।
2. गायन में जिस प्रकार का 'vibrato' प्रयुक्त होता है, वैसा बात-चीत में नहीं होता।
3. गायन में शब्द और स्वर जिस प्रकार जुड़े अर्थात् 'articulated' रहते हैं वैसे बोलने में नहीं होते।
4. गायन में स्वर की ऊँचाई-नीचाई में जल्दी-जल्दी परिवर्तन अर्थात् 'pitch variation' होता है, जो बात-चीत में नहीं होता।

डॉ. डी. स्टेनले के बाद इस क्षेत्र में लगातार नवीन संशोधन होते रहे हैं। फिर भी इस शास्त्र का वैज्ञानिक और तर्कयुक्त स्वरूप सर्वप्रथम डॉ. डी. स्टेनले ने ही सबके समक्ष रखा।'[1]

अतः आधुनिक का ध्यान रखकर कण्ठ-माधुर्य की ओर ध्यान दिया जाये और भिन्न-भिन्न आवाजों को संगीत की लोकप्रियता में भी वृद्धि होगी, जो आवाज़ जिस गायन शैली के लिए उपयुक्त हो उससे किसी अन्य गायन शैली की आशा ना करके उसके आवाज़ के आधार पर उस गायन शैली का प्रशिक्षण देना चाहिए जिसके लिए उस व्यक्ति का कण्ठ योग्य हो। विद्वतजनों का मानना है कि आवाज़ में विकृति तभी आती है जब किसी विधा को उपयुक्त कण्ठ-स्वर उपलब्ध नहीं होते।

वर्तमान में जहां शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता में वृद्धि होती जा रही है, वहीं गायकों व गायन के विद्यार्थियों को कण्ठ संस्कार की आवश्यकता पड़ रही है। गायन के विद्यार्थियों के लिए कण्ठ संस्कार अथवा कण्ठ साधना उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी शास्त्रीय संगीत की शास्त्रीयता को सीखना। मात्र उचित आवाज़ लगाने अथवा गाने के लिए ही नहीं अपितु प्रभावशाली प्रदर्शन व लम्बे समय तक अपनी आवाज़ को सुरक्षित और उपयोगी बनाए रखने के लिए भी कण्ठ संस्कार अत्यन्त आवश्यक है।

# रागाभिव्यक्ति में काकु का महत्व

**डॉ. रामशंकर**

सम्पूर्ण संगीत का आधार ध्वनि है। संगीत में नाद अर्थात् ध्वनि की आराधना की जाती है। ध्वनि को सांगीतिक रूप में प्रकट करने के लिए राग का प्रयोग किया जाता है। संगीत में राग का महत्त्व अवर्णनीय है। राग के ही द्वारा संगीत में सौन्दर्य की सृष्टि और भावों की अभिव्यक्ति सम्भव है। राग में स्वर होते हैं, राग के नियत स्वर की श्रुतियाँ होती हैं। इन नियत स्वरों के द्वारा राग के व्यक्तित्व का प्रकटीकरण होता है। इन स्वरों का आकर्षण इतना प्रभावी होता है कि मात्र स्वरों को सुन लेने से ही श्रोताओं का चित बाह्य जगत से विलग होकर संगीत के परम सौन्दर्य में लीन हो जाता है। स्वर का यह सौन्दर्य मनुष्यों को ही नहीं अपितु समस्त जीवित प्राणियों को आह्लादित करता है। स्वरों की यह विशेषता काकु के द्वारा ही प्रकट होती है। संगीत में स्वर के द्वारा रागों का निर्माण होता है और रागों के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति होती है, इन भावों को मूर्त रूप प्रदान करने का कार्य काकु के द्वारा किया जाता है। रागों में स्वर का चलन राग के व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाकर व्यक्त करता है। राग में स्वर का प्रयोग कर राग को दृश्य बनाया जाता है। स्वरों के एक जैसा होने पर भी राग में भिन्नता आ जाती है, राग का भाव भी परिवर्तित हो जाता है, यह काकु के द्वारा सम्भव है। ध्वनि में कुछ चमत्कार तो है जो इस भिन्नता को प्रदर्शित कर राग को सम्पूर्णता प्रदान करता है। जिससे स्वर साम्य होते हुए भी राग भिन्न प्रतीत होता है। जैसे राग भूपाली और देशकार में स्वर साम्य है किन्तु दोनों का चलन, वादी-सम्वादी आदि भिन्न हैं, इस तथ्य का प्रकटीकरण करने में काकु का मुख्य किरदार है। राग में राग-गत स्वरों की विभिन्न स्वरावालियाँ एक विशिष्ट ध्वनि का निर्माण करती हैं, जो रंजकत्व के साथ-साथ विभिन्न भावों का भी आविर्भाव करती है। इन भावों का व्यक्तिकरण और राग के प्रभाव से निर्मित वातावरण का निर्माण काकु-प्रयोग से ही निष्पादित हो पाता है।

राग में बंदिशें होती हैं जो किसी भी राग को अधिक मूर्त बनाती हैं। इन बंदिशों में काव्य अथवा पद होते हैं जो राग के स्वरों के भावों के साथ साम्य करके राग प्रस्तुतिकरण का स्वरुप और अधिक वृहद व प्रभावशाली बना देते हैं। काव्य अथवा पदों से जो अर्थ प्रकट हो रहा है उन्हें ध्वनि के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है और इस ध्वनि व शब्दों में निहित भावों का सम्प्रेषण काकु के द्वारा किया जाता है। यदि किसी बंदिश में वियोग श्रृंगार का पद है और राग के स्वरों का संयोजन भी उसी से कुछ मिलता-जुलता है तो उन शब्दों और स्वरों के भावों का अभिव्यक्तिकरण करने के लिए काकु-प्रयोग किया जाता है, जिससे राग के रस का व पद के अर्थ का सही व निश्चित बोध श्रोताओं को हो जाता है। कलाकार को राग प्रस्तुत करने के लिए जितना महत्वपूर्ण उस राग की स्वरावालियों को जानना है उतना ही महत्वपूर्ण बंदिश के शब्दों का अर्थ जानना भी है। जब कोई व्यक्ति किसी शब्द का सही अर्थ जानेगा तो ही वह उसका सही भाव व्यक्त कर पायेगा। काकु का सही प्रयोग करने के लिए शब्द के अर्थ का बोध महत्वपूर्ण है क्योंकि अर्थ ज्ञान से ही भाव सही प्रकार से अभिप्रेत किये जा सकते हैं।

---

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला-संकाय, काशी हिन्दु वि. वि., वाराणसी

संगीत में ध्वनि ही आधार है इसलिए यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है तथा रागों की प्रस्तुति में प्रयुक्त स्वरों से प्राप्त भाव तथा रस की उत्पत्ति काकु के द्वारा ही सम्भव है। राग गायन से प्राप्त आनन्द काकु-प्रयोग से ही मिलता है। रागदारी संगीत स्वर-प्रधान है व इनमें भाषा का स्थान गौण है इसलिए काकु प्रयोग का महत्व अत्यधिक है। गायन हो अथवा वादन दोनों में ध्वनि विकार दृष्टिगत होता है अतः काकु का महत्त्व दोनों में एक समान उदाहरणार्थ वह ध्वनि, जो अर्थ विहीन है, उसकी ओर कोई आकर्षित नहीं होगा लेकिन जब ध्वनि किसी भाव को लेकर चलती है अर्थात् ध्वनि विकार से किसी भाव को उत्पन्न करती है तो प्रत्येक को प्रभावित करती है। काकु का सार्थक प्रयोग गायन-वादन को रससिद्ध अवस्था तक पहुंचाने में अवश्य सहायक होता है। काकु ध्वनि के द्वारा व्यक्त होते हैं तथा प्रयुक्त शव्दों या स्वरों में छिपे रहते हैं। इसलिए उन्हें शब्द या स्वर की छाया भी माना जाता है। छायाओं का आश्रय लेकर काकु भाव-भेद उत्पन्न करते हैं। काकु, ध्वनि में होने वाले विकार के प्रभाव को दर्शाता है और छाया, ध्वनि-विकार से प्रयोग पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को दृश्यमान करती है। यह प्रतिबिम्ब काकु के द्वारा ही पड़ता है। अतः काकु को छाया में ही समाहित कर लिया गया है। सार-रूप में यह कह सकते हैं कि जहाँ प्रकृत में अप्रकृत की छाया दिखाई देती है उसे छाया अथवा काकु कहा गया है।

राग का स्वयं अपना व्यक्तित्व होता है जो विभिन्न स्वरों, भावों तथा रसों की सिद्धि करता है। काकु में विभिन्न रसों के भावों का अभिव्यक्तिकरण भी निहित है। शृंगार-रस, करुण-रस व हास्य रस में विलम्बित काकु का प्रयोग होता है और अद्‌भुत तथा रौद्र रस में दीप्त काकु का प्रयोग शास्त्रों में वर्णित है। इस प्रकार काकुओं का प्रयोग भाव एवं विलम्बित काकु का प्रयोग शास्त्रों में वर्णित है। इस प्रकार काकुओं का प्रयोग भाव एवं रसानुकरण से रागों के अन्तर्गत किया जाता है, जिससे रागों का प्रस्तुतिकरण प्रभावशाली बनता है और रागभिव्यक्ति में काकु का महत्व दर्शित होता है।

काकु राग के तत्वों को उजागर कर राग-गत सौन्दर्य को प्रस्तुत करने में अपूर्व सहयोग देता है। राग की अभिव्यक्ति में काकु द्वारा भावों की सृष्टि की जाती है जिससे राग का भावमय स्वरुप श्रोताओं के सामने प्रस्तुत होता है। राग के विभिन्न तत्वों व राग में अन्तर्निहित भावों को मूर्तता प्रदान करने का कार्य काकु का ही होता है। काकु के छः अंगों का प्रयोग इसीलिए किया जाता है।

स्पष्ट है कि भावों की अभिव्यक्ति ही सौन्दर्यानुभूति कराती है, और भाव चाहे करुण रस का हो अथवा श्रृंगार रस का वह आनन्द की अनुभूति कराता है। उदाहरण के लिए यदि कोई कलाकार करुण रस के किसी राग अथवा पद की प्रस्तुति कर रहा है तो यह आवश्यक नहीं है कि उस समय वह उसी परिस्थिति में है परन्तु ध्वनि विकार व पदों के भावों को अभिव्यक्त करने के लिए वह काकु-प्रयोग कर श्रोताओं को ऐसा अनुभव करा सकता है कि अमुक भाव वह स्वयं में महसूस कर रहा है। यह देख कर श्रोतागण भावुक तो हो जाते है किन्तु यह भावुकता उन्हें सौन्दर्यानूभूति व आनन्दानुभूति प्रदान करती है। राग की अभिव्यक्ति के लिए काकु राग के राग-तत्वों में से प्रमुख स्थान पर प्रतिष्ठित है।

# रसूलन बाई : व्यक्तित्व परिचय

**डॉ. शीला झा**

गायिका रसूलन बाई का जन्म 1902 ई. में मिर्जापुर में हुआ। पाँच वर्ष की उम्र में जब लड़कियाँ गुड़ियों से खेलती एवं खिलौने तोड़ती हैं, तब नन्ही रसूलन गायकी की तालीम आरम्भ कर चुकी थीं। आपने मियां शोरी परंपरा के प्रसिद्ध उस्ताद शंभु खाँ से विधिवत सीखना आरम्भ किया। कुछ वर्षों पश्चात् आप सफल गायिका के रूप में जनसाधारण में लोकप्रिय हो गई। शीघ्र ही आपको धर्मजयगढ के दरबार में गायन के लिए आमन्त्रित किया गया। इस दरबार में गायन के पश्चात् दूसरे दरबारों से भी गायन हेतु आमंत्रण आने लगे और कुछ समय उपरान्त आप रतलाम, पन्ना, इंदौर, रामपुर, रीवां आदि दरबारों की लोकप्रिय गायिका बन गईं। आपके साथ-साथ सिद्धेश्वरी देवी, केसरबाई केरबर, बड़ी मैंना, बेगम अख़्तर आदि गायिकाओं ने भी रियासतों में अपना स्थान बनाया।

बीस वर्ष की आयु में आपका विवाह हुआ तो आपको यह कसम खानी पड़ी कि आप अपने बेटे-बेटियों को गायकी की शिक्षा नहीं देगी। विषय परिस्थियों के कारण बनारस का पैतृक घर बिक जाने पर आप इस बच्चों की गृहस्थी लेकर बंबई चली गयी किन्तु आर्थिक तंगी से वहाँ रहना दूभर हो गया और आपके सम्बन्धियों द्वारा आपको अमहमदाबाद बुला लिया गया। चार साल यहाँ रहने के पश्चात् आप एच. के. कॉलेज में पढ़ाने लगीं साथ ही साथ आकाशवाणी की गायिका भी हो गयीं। अब आपको ऐसा लगने लगा कि भटकाव के दिन खत्म हो गये हैं, किन्तु 1968 में आपको लकवा मार गया, तब आपके दोस्तों और शार्गिदों द्वारा आपका इलाज हुआ एवं देखरेख की गयी। तत्पश्चात् दिल्ली की संस्था 'रामरंग' ने सूचना और प्रसार मंत्रालय तथा दिल्ली प्रशासन को एक छोटी-छोटी वृत्ति देने के लिए राजी किया लेकिन जब राहत का समय आने लगी उसी समय (1969 में) अहमदाबाद के हिन्दू-मुस्लिम दंगे भड़क उठे और आपको चैन की सांस नहीं मिली। आपका घर, संपत्ति सब कुछ जलकर खत्म हो गया, तत्पश्चात् आप दिल्ली आ गयी। क्योंकि अपने जीवनयापन हेतु काम करने को आप मुस्तैद थीं।' लेकिन उस समय आपको दुःख था, कि आपका कोई मददगार नहीं था। अन्त में आप हताश होकर अपनी बहन से पास इलाहाबाद चली गयीं।

गायकी की बुलंदियों पर पहुँच कर भी आपका व्यवहार नहीं बदला। आपको कभी अपनी गायकी पर अभियान नहीं हुआ। बात-बात में आप लोगों को 'भइया' या छोटे को 'बचवा' कहकर संबोधित करती थीं। यह आपके सद्व्यवहार का नतीजा था कि गायकी का शौक न रखने वाला भी आपका उतना ही सम्मान करता था। आप भारत सरकार द्वारा पदमश्री, संगीत नाटक अकादमी आदि पुरस्कारों से सम्मानित थीं। जीवन के अंतिम दिनों में आपकी आंखों में जलते घर की लपटें अक्सर कौंधती देखी जाती थीं और आपको अक्सर यह कहते सुना जाता कि 'मुसीबत में आदमी क्या गायेगा, तब तो खत्म हो गया गाना, मेरे भीतर का सारा संगीत जल चुका है।' पुरस्कारों से जिन्दगी तो नहीं चलती, सरकार कलाकारों की इज्जत कर देती है, फिर भूल जाती है। 15 दिसंबर 1974 को इलाहाबाद में अपने

पूर्व शोध छात्रा, वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि., दरभंगा

सम्बन्धियों के बीच आपका निधन हो गया। वास्तव में आपकी मृत्यु कलाकारों के इस अपमान, संघर्ष और असहायता का अहसास आज भी तीखा कर देता है। आपका गायन आपके बच्चों द्वारा तो मुखरित न हो सका किन्तु अनेक शिष्याओं द्वारा उजागार हुआ। दिल्ली की नैना देवी आपकी प्रमुख शिष्याओं में प्रसिद्ध हुयीं।

## गायकी की विशेषताएं

रसूलन बाई के सांगीतिक जीवन का आरम्भ पांच वर्ष की अल्पायु से ही हो चुका था। आपको गायकी की विरासत अपनी मां और नानी से प्राप्त हुयी। तत्पश्चात् आपने उस्ताद शंभु खां के सान्निध्य में तालिम अर्जित की। उस्ताद द्वारा किसी सुर का एक अंश बोल दिया जाने पर चार-पांच घंटे या कभी-कभी एक अंश को लेकर दो-तीन सप्ताह तक रियाज कराये जाने से आप छोटी ही उम्र में ठुमरी, दादरा एवं टप्पा गायकी इतनी खुबसूरती से कैसे गा लेती हो? तो आप बड़ी सहजता से उत्तर देतीं, 'यह सब रियाज का कमाल है। टप्पे के रियाज़ से गला इस तरह मंज जाता है कि ठुमरी, ख़्याल की मुश्किल से मुश्किल हरकतें बड़ी सरलता से पेश की जा सकती हैं। उपर्युक्त विधाओं के अतिरिक्त आपने ख्याल का बखूबी निर्वहन किया। आपकी लगन और कई-कई घंटों के रियाज़ से आप अपने उस्ताद की कसौटी पर खरी उतरीं। आपकी आवाज में जादू था। ठुमरी, दादरा से चली तालीम ने शीघ्र ही आपको कुशल गायिका बना दिया।

रसूलन बाई के ठुमरी गायन का दबाव न था। गायकी के बोलों का अंदाज़ेबयाँ पृथक होने से आपके द्वारा गये ठुमरी का रसास्वादन गइराई में डुबो' देता था क्योंकि ख्याल अंग की प्रबलता से दीर्घालाप द्वारा आपका गायन अधिक प्रभावशाली हो जाता था। टप्पा गायकी की गहरी तालीम होने से आप टप्पे की तान की अच्छी जानकार थीं।

"Her main forte is the Thumri and her gayaki belongs to what is known as "Purab and Tappe ki Thumri" of Banaras. Her gayaki is deginified, enchanting, full of depth and feelings, which is source of great aeshetic satisfaction."

अपनी गायकी के प्रभाव से सरकारी आमंत्रण पर आपने मिर्जापुर से नेपाल, अफ़गानिस्तान, पाकिस्तान आदि देश-विदेशों की लंबी यात्रायें कर अनेक कार्यक्रमों द्वारा काशी का नाम उज्ज्वल किया। मंत्र मुग्ध होकर श्रोता आपकी ठुमरी 'आ जा गुमानी और 'नजर नहीं आवें'.....सुनना पसंद करते थे। आपके द्वारा गेय 'लगत करेजवा में चोट', 'कहंवा से आए' आदि अनेक ठुमरियाँ भी प्रसिद्ध हुयीं।

'रसूलन बाई कहा करती थीं कि मेरी मौसिकी (संगीत) की जिंदगी, मेरी सांस और मेरे दिल की धड़कन है और सचमुच जब तक उनका दिल धड़कता रहा वह गाती रहीं।' 'रंसूलन बाई के निधन से ऐसा लगता है कि टप्पा भी उन्हीं के साथ चला गया। 'आपके बारे में कुछ पुराने लोग कहा करते हैं कि वह ख्याल भी गाया करती थीं लेकिन लंबे समय तक ख्याल गायन छोड़ देने से पूरब अंग की ठुमरी में गज़ब का परिवर्तन हो गया।' इस प्रकार आपकी ठुमरी का सबसे अलग रंग की आपकी सबसे बड़ी विशेषता बन गया। महफिलों में गाने के अतिरिक्त आपके ठुमरी, दादरा एवं टप्पा गायकी के अनेक ग्रामोफोन रिकॉर्ड्स भी तैयार हुये।

# भक्ति संगीत के प्रचार प्रसार में अनुराधा पौडवाल का योगदान वैष्णव संप्रदाय के संदर्भ में

**डॉ राजेश शर्मा, गीतूबाला**

*''संगीत है शक्ति ईश्वर की हर सुर में बसे हैं राम*
*रागी जो सुनाये राग मधुर, रोगी को मिले आराम।''1*

भक्ति संगीत एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा साधक ईश्वर की अराधना कर मोक्ष की प्राप्ति करता है। भक्ति संगीत की यह धारा न जाने कितने युगों से इस धरती पर बह रही है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए मनुष्य जिस पथ की ओर अग्रसर होता है, वह है भक्ति का पथ। वैदिक काल से ही भक्ति संगीत का संगीत में सर्वोच्च स्थान रहा है। संगीत में एक ऐसी दिव्य शक्ति विद्यमान है जो साधक को अपने प्रभु के समीप लाती है। संगीत एक ऐसी कला है जिसके द्वारा भक्त अपने मन की भावनाओं को अपने आराध्य के समक्ष प्रस्तुत करने में सफल होता है।

संगीत में ईश्वर स्वरूपीय आनन्द का आर्विभाव है। संगीत के द्वारा मनुष्य दुखों से निरलेप रह कर तप, दान, कर्मयोग जैसे कष्टों को न सहन करते हुए प्रभु भक्ति में लीन रहकर मोक्ष के द्वार को प्राप्त करता है।भक्ति संगीत को जानने से पहले भक्ति के अर्थ को जानना अति आवश्यक है।

**भक्ति का अर्थः-** 'भक्ति' शब्द ''भज'' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगने से बना है। भज् धातु के अनेक अर्थ हैं, जैसे सेवा, विभाग, अनुराग, विशेष आदि।''[2] अतः ईश्वर की आराधना, सेवा, विभाग, विश्वास, उपचार, आश्रय लेना, आदि होना, आराध्य देवता का नाम जपना एवं उसका बारम्बार स्मरण और ध्यान करना ही ''भक्ति'' है। आमतौर पर अपने से बड़ों के प्रति या देवता के लिये श्रद्धा एवं आसक्ति का नाम ही भक्ति है।

भक्ति दो हृदयों के एकीकरण को कहते हैं। संक्षेप में एकरूपता, एकरसता होने के बावजूद भी भक्त के मन में अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा तथा पूजनीय भाव होता है। संक्षेप में जो आसक्ति मोह स्त्री, पुत्र, धन आदि के लिए होता है वही मोह अगर भगवान् के प्रति हो जाए तो 'भक्ति' का रूप धारण कर लेता है। इस दृष्टि से भक्त शिरोमणि प्रातः स्मरणीय गोस्वामी जी 'रामचरित्मानस' के अन्त में कहते हैंः-

*''कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।*
fr fe j?kqkFk fuj Urj] fi z y kx gq e kg j ke AA^^3

इस प्रकार भगवान् के प्रति अर्पित की हुई भावना ही 'भक्ति' है।

भक्ति के विषय में देव ऋषि नारद का कहना है; ''यह भक्ति अमृत स्वरूपा है। इसे पाकर मनुष्य अमर हो जाता है, क्योंकि भगवान से अनन्त प्रेम ही असली अमृत है, जिसे यह प्राप्त हो जाता है, वह अमर हो जाता है।''[4]

भक्ति के विविध प्रकार भी माने जाते हैं, भक्ति एक मनोवैज्ञानिक भाव है। भक्ति के विभिन्न भेद और प्रकारों पर विभिन्न आचार्यों के द्वारा बहुत कुछ कहा और लिखा गया है, लेकिन भक्ति के दो प्रधान भेद जिसमें एक साधना रूप, जिसे वैद्य तथा नवद्या के नाम से भी जाना जाता है और दूसरी

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, गुरू नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर,
शोध छात्रा, गुरू नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

साध्य जिसे प्रेमा भक्ति के नाम से भी जाना जाता है।

गीता में नौ प्रकार की भक्तियों का उल्लेख किया गया है, तथा उसे नवधा भक्ति के नाम से संबोधित किया गया है। नवधा भक्ति के नौ लक्षण हैं जो इस प्रकार हैः-. श्रवण, कीर्तन, स्मरण,पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य,आत्म-निवेदन।

'नवधा भक्ति' के अतिरिक्त 'प्रेमा-भक्ति' भी भक्ति का एक विशेष प्रकार है, जिसका महत्व वैष्णव सम्प्रदाय में बहुत अधिक है। क्योंकि प्रेमा भक्ति का स्वरूप अवर्णनीय है। यह कामनारहित, गुणरहित तथा क्षण-प्रतिक्षण बढ़ने वाली विच्छेद रहित आनन्दानुभूति है।नवधा भक्ति में श्रवण एवं कीर्तन को सर्वप्रथम रखकर विशेष रूप से महत्त्व दिया गया है। कीर्तन भक्ति के अनेक मार्गों में से एक है।कीर्तन के लिए संगीत ही एक ऐसा आधार है जिससे ईश्वर के साथ अति शीघ्रता से तालमेल बनाया जा सकता है।

संगीत की परिभाषा :- संगीत रत्नाकर में संगीत की परिभाषा इस प्रकार दी गई है।

*''गीत वाद्य तथा नृत्य त्रयं संगीत मुच्यते।''*[5]

अर्थात गीत, वाद्य तथा नृत्य इन तीनों कलाओं के अंतर्भाव को ही संगीत की संज्ञा दी गई है। वास्तव में संगीत की ये दोनों ही कलाऐं एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं, परन्तु फिर भी गायन के अधीन वादन, वादन के अधीन नर्तन की कला मानी जाती है। प्राचीन काल से ही इन तीनों कलाओं का प्रयोग अधिकतर एक साथ ही होता है।

*''नृत्यं वाद्यानुगंप्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च।''*[6]

अर्थात् नृत्य वाद्य का अनुगमन करने वाला होता है और वाद्य गीत का अनुयायी है, भाव उसके पीछे-पीछे चलता है।

संगीत का मूलभूत तत्त्व नाद अथवा आवाज है। इस कला को नादब्रह्म कहकर संबोधित किया गया है।

संगीत में हृदय को छू लेने की शक्ति है। मन की अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप संगीत ही देता है। यह जीव, प्रकृति तथा समस्त सृष्टि के कण-कण में विराजित है। इसी कारण कहा गया हैः-

*''प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही संगीत है।''*[7]

संगीत की उत्पत्ति का आधार नाद या ध्वनि है। इसके बिना संगीत की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

*''न नादेन बिना गीतं न नादेन बिना स्वरः।*
*न नादेन बिना नृतं तस्मान्नादात्मकं जगत्।।''*[8]

इस प्रकार संगीत का आविर्भाव प्रभु भक्ति के लिए हुआ।

भक्ति संगीत का अर्थः- 'भक्ति संगीत' 'भक्ति' और 'संगीत' इन दो शब्दों के मेल से बना है। यदि यह कह दिया जाए कि संगीत का उद्भव भक्ति के लिए ही हुआ है तो कोई अति कथनी न होगी। वह संगीत जिसमें शब्द, भजन, कीर्तन के द्वारा ईश्वरीय महिमा तथा उनके गुणों का बखान संगीत के माध्यम से किया जाऐ तो उसे 'भक्ति संगीत' कहा जाता है। भक्ति संगीत किसी तरह से कोई पृथ्क संगीत नहीं है। जब देवी-देवताओं की स्तुति के लिए मंत्रों को संगीत की मधुर स्वरावलियों में राग, तालबद्ध करके गाया जाता है तो उसे 'भक्ति संगीत' की संज्ञा दी जाती है।

भक्ति संगीत के बारे में कहा गया है। ''भागवत् प्रेम की प्राप्ति के लिए या भगवान के गुणानुवाद के द्वारा अपने मानसिक विकारों का शमन करने के लिए जो गीत गाऐ या बजाऐ जाते हैं वह 'भक्ति संगीत' है।''[9]

भक्ति संगीत में भक्तिपरक काव्य का गायन किया जाता है, जिसको भजन कहते हैं। यह भक्ति-गीत पवित्र, अलौकिक तथा अलौकिक शक्ति से सम्पन्न होते हैं। जो सत्य, शिव एवं सौंदर्यता का अद्भुत समन्वय है। भक्ति संगीत का उदभव कैसे हुआ?

संगीत का जन्म सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही हुआ। आदिकाल से ही अपने मन के भावों को उजागर करने के लिए मानव ने किसी-न-किसी तरह से संगीत का प्रयोग किया है। किसी कठिनाई का समाधान होने पर जब वह प्रसन्न होकर विभिन्न प्रकार से आवाजें निकालता था तो यह उसका

आरंभिक संगीत था। प्राकृतिक आपदाओं से बचने के लिए वह वायु, जल, सूर्य, पृथ्वी तथा अग्नि को प्रसन्न करने हेतु भक्ति में संगीत का प्रयोग करने लगा, जो संगीत धार्मिक भावना से ओतप्रोत था। संगीत में ईश्वर के समक्ष भक्त की अर्जी स्वीकार करवाने की अद्‌भुत शक्ति है।इसी शक्ति को ही स्वीकार करते हुऐ भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न संतों पीरों, पैगंबरों, फकीरों ने ईश्वरीय अराधना के लिए संगीत के माध्यम को ही स्वीकारा।उन्होंने अपनी अपनी शैली के द्वारा ईश्वरीय महिमा का गुणगान कर भक्ति संगीत का खूब प्रचार प्रसार किया। जैसे अगर मीरा जी ने मेरे तो गिरधर गोपाल तथा सूरदास जी ने मईया मोरी मैं नहीं माखन खायो जैसी रचनाओं को गाया तो गुरु नानक देव जी ने गुरवाणी का गाायन कर भक्ति का खूब प्रचार प्रसार किया। समय के बदलते परिवेश में चित्रपट का आगमन हुआ। चित्रपट के आते ही हमारे समाज में कुछ ऐसे कलाकार सामने आऐ जिन्होंने चित्रपट के अंतर्गत भक्ति संगीत के प्रचार प्रसार में अपना विशेष योगदान दिया। भक्ति की इसी धारा का प्रचार-प्रसार करने के लिए फिल्मी संगीत जगत के कई महान् कलाकारों जैसे लता मंगेशकर, महेंद्र कपूर, मुहम्मद रफी,, नरेंद्र चंचल, सुरेश वाडेकर इत्यादि ने अपनी मधुर वाणी से धार्मिक रचनाओं का गायन किया।

इन्हीं कलाकारों के बीच एक ऐसी महिला कलाकार का नाम भी है जिन्होंने पार्श्व संगीत की दुनिया में तो अपना योगदान दिया ही लेकिन अगर भक्ति संगीत के विशेष संदर्भ में देखा जाए तो उनका योगदान अतुलनीय है। इस महान् शख्सियत को हम अनुराधा पौडवाल के नाम से जानते हैं।

अनुराधा पौडवाल का जीवन वृतांतः- फिल्मी संगीत जगत में अनुराधा पौडवाल एक ऐसी महान् महिला कलाकार हैं जिन्होंने अपनी आकर्षक आवाज़ के आधार पर भारत में ही नहीं बल्कि समस्त विश्व में अपना नाम रौशन किया एवं भारतीय संगीत तथा भारतीय संस्कृति को एक विशेष स्थान दिलाया है।

जन्मः-अनुराधा पौडवाल का जन्म 27 अक्तूबर 1954 को मुम्बई जिसे हम संगीत एवं अभिनय का प्रयाग कह सकते हैं,में एक ब्राह्मण परिवार में श्री विट्ठल नादकर्णी तथा श्रीमती इंदुमती नादकर्णी के घर पर हुआ। "मेरा जन्म 27 अक्तूबर 1954 को श्री विट्ठल नादकर्णी तथा माता श्रीमती इंदुमती नादकर्णी के घर हुआ।"[10] अनुराधा पौडवाल का बचपन का नाम अल्का नादकर्णी था जो बाद में मराठी की प्रसिद्ध संगीतकार जोड़ी अमर मोहिले-अरूण पौडवाल जोड़ी के महान् संगीतकार अरूण पौडवाल से विवाह के पश्चात् फिल्मी संगीत दुनिया में अनुराधा पौडवाल के नाम से लोकप्रिय हुआ।

शिक्षाः-अनुराधा पौडवाल ने अपनी प्राथमिक शिक्षा मुम्बई के विद्यालय रोज़ मेनर से प्राप्त की तथा उच्च शिक्षा मुम्बई महाविद्यालय 'सेंट ज़ेवियर' से पूर्ण की। "मैंने अपनी शुरूआती शिक्षा मुम्बई के ही रोज़ मेनर स्कूल से ली और उच्च शिक्षा मुम्बई के ही कालेज सेंट ज़ेवियर से पूर्ण की। मै कालेज के दिनों से ही कालेज में आयोजित होने वाले सांस्कृतिक कार्यक्रमों एवं प्रतिस्पर्धाओं में हिस्सा लिया करती थी।"[11]

इस प्रकार वह अपने कालेज के दिनों से ही आयोजित होने वाले सांस्कृतिक कार्यक्रमों एवं प्रतिस्पर्धाओं में कियाशील रही।

अनुराधा पौडवाल का जन्म मुम्बई में होने के कारण आरंभिक दिनों से ही उनका लगाव हिन्दी फिल्मी संगीत की तरफ होना स्वाभाविक ही था। उनकी संगीत में रूचि बचपन से ही रही। "मैं जब दो वर्ष की थी तो एक दिन मेरी माँ मुझे गोदी में बिठाकर नागिन फिल्म देख रही थी तो मैंने शायद इस फिल्म की धुन को याद रखा और गुनगुनाना शुरू कर दिया जब मेरी माँ ने मुझे ऐसा करते हुऐ देखा तो उन्हें एहसास हुआ कि मुझे संगीत में बहुत रूचि है।"[12]

इस प्रकार उनकी संगीत के प्रति असीम श्रद्धा को देखते हुऐ उनकी माता जी ने उन्हें श्री पंडित जसराज तथा पंडित सत्यनारायण मिश्रा जी से संगीत की शिक्षा दिलवाना शुरू कर दिया। "मैंने संगीत की विधिवत् शिक्षा लेने की बहुत बार कोशिश की लेकिन हालात के चलते यह संभव ना हो पाया। मैंने संगीत की थोड़ी बहुत शिक्षा पंडित जसराज जी और पंडित सत्यनारायण मिश्रा जी से ली।"[13]

अनुराधा पौडवाल के सांगीतिक गुरूओं ने उनकी सांगीतिक काबलियत को देखते हुऐ पहले ही यह बता दिया था कि "अनुराधा भारत देश की महान् कलाकार बनेगी जो कि पूरे संसार में अपना लोहा मनवाएगी।"[14]

भले ही अनुराधा पौडवाल ने संगीत की विधिवत् शिक्षा लम्बे समय तक ग्रहण नहीं की परंतु वह स्वर सम्राज्ञी लता मंगेशकर को अपना आदर्श गुरु मानते हुऐ उनके गाऐ गीतों को सुनकर ही घंटों अभ्यास करती रही। अनुराधा पौडवाल के पिता की संगीत में कोई रूचि नहीं थी। उनके पिता जी उन्हें प्रोफेसर बनाना चाहते थे। अनुराधा पौडवाल ने एक साक्षात्कार में बताया कि My father was very against our watching films or listening to music.we did not even have a radio in the house.[15]

इस प्रकार इन सब कठिनाइयों के बावजूद भी अनुराधा पौडवाल ने संगीत का अभ्यास नही छोड़ा तथा संगीत के क्षेत्र में सफलता के नये आयाम स्थापित करती रही।

वर्ष 1971 में अनुराधा पौडवाल का विवाह संगीत जगत के महान् संगीतकार अरूण पौडवाल के साथ हुआ, जो संगीतकार सचिन देव बर्मन के संगीत सहायक भी रहे। "अनुराधा जी की शादी अरूण पौडवाल के साथ 1971 में हुई।"[16]

विवाह पश्चात् अनुराधा पौडवाल की दो संतानें हुई,कविता पौडवाल तथा आदित्य पौडवाल। कविता पौडवाल संगीत जगत् की एक प्रसिद्ध गायिका के रूप में प्रतिष्ठित हैं तथा आदित्य पौडवाल एक उच्च श्रेणी के संगीतकार हैं।

सांगीतिक सफर :- अनुराधा पौडवाल ने अपने सांगीतिक सफर की शुरुआत उस समय की जब पार्श्व गायन की दुनिया में विश्व विख्यात महिला पार्श्व गायिका लता मंगेशकर एवं आशा भौंसले का एक स्वर्णिम युग चल रहा था। उस समय के दौरान किसी अन्य कलाकार के लिये फिल्मी संगीत जगत में अपना स्थान बनाना ना केवल मुश्किल था बल्कि असंभव सा प्रतीत होता था। परंतु अनुराधा पौडवाल की चित्त आकर्षक सुरीली आवाज़, कर्मठता तथा अटूट लगन के कारण उन्होंने इस बात को नकारते हुऐ फिल्मी जगत में अपना एक विशेष स्थान बनाकर संगीत की दुनिया में सफलता के उच्चतम शिखर को छुआ।

उन्होंने अपने फिल्मी सांगीतिक सफर की शुरुआत सन् 1973 में फिल्म अभिमान में शिव श्लोक को गाकर की। इसके पश्चात् उन्होंने फिल्मी संगीत जगत में प्रत्येक संगीतकार एवं संगीत निर्देशक के लिए एक से बढ़कर एक गीतों को गाकर सुपरहिट किया। उन्होंने फिल्मों में जहां गीत गज़ल को अपनी मधुर आवाज़ में गाया वहीं कई भक्ति भावना से ओतप्रोत बनी फिल्मों में भक्तिपरक रचनाओं का गायन कर भक्ति संगीत का खूब प्रचार-प्रसार किया। उन्होंने लगभग सभी धर्मों की भक्तिपरक रचनाओं का गायन कर भक्ति संगीत के क्षेत्र में अपनी अलग पहचान बनाई।

उन्होंने हिन्दु धर्म की भक्तिपरक रचनाओं का गायन कर भक्ति संगीत का खूब प्रचार-प्रसार किया। हिन्दु धर्म भारत का सबसे प्राचीन धर्म है जो कि सर्वप्रथम वैदिक धर्म अथवा सनातन धर्म के रूप में विकसित हुआ। यह वेदों पर आधारित धर्म है जो अपने अंदर कई अलग-अलग उपासना पद्धतियां, मत, संप्रदाय और दर्शन समेटे हुए है। इस धर्म की एक अनोखी बात यह है कि इसमें ईश्वर के अनेकों रूपों की पूजा की जाती है। हिन्दु धर्म को इष्टदेव के आधार पर तीन संप्रदाय शाक्त, शैव तथा वैष्णव में विभक्त किया गया है।

परंतु इस शोध पत्र को अनुराधा पौडवाल के द्वारा वैष्णव मत पर आधारित रचनाओं को गाकर किये गये भक्ति संगीत के प्रचार-प्रसार पर केंद्रित किया गया है।

वैष्णव मत की परिभाषाः- वैष्णव सम्प्रदाय एक ऐसा संप्रदाय है जहाँ भगवान विष्णु जी तथा उनके विशेषतः अवतारों श्री राम जी तथा श्री कृष्ण जी की पूजा की जाती है। भगवान् विष्णु जी को ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति में प्रधान मानकर उनकी पूजा करने वाले वैष्णव कहलाने लगे। भगवान विष्णु के कई अवतार हैं जैसे मतस्य अवतार, कूर्म अवतार, मोहिनी अवतार, वराहावतार, नरसिंहावतार, वामन् अवतार, कृष्णावतार, राम अवतार आदि। जिनमें भगवान् श्री राम तथा श्री कृष्ण जी के अवतार प्रमुख हैं।

अनुराधा पौडवाल ने वैष्णव संप्रदाय की भक्तिपरक रचनाओं का गायन कर भक्ति संगीत का खूब प्रचार प्रसार किया। उन्होंने वैष्णव संप्रदाय का प्रचार प्रसार दो माध्यमों से किया एक चित्रपट तथा दूसरा गैर-चित्रपट। जिसका विस्तृत विवरण इस प्रकार है।

वैष्णव मत में भक्ति संगीत का प्रचार चित्रपट के माध्यम सेः-अनुराधा पौडवाल ने वैष्णव मत के अंतर्गत भगवान विष्णु की भक्ति से संबंधित चित्रपट में कई भजनों को अपनी मधुर आवाज़ में गाकर भक्ति संगीत के क्षेत्र में अपना बहुमूल्य योगदान डाला है। फिल्मों में उनके द्वारा वैष्णव मत के प्रचार-प्रसार करने में दिये गये योगदान का विस्तार से वर्णन करने से पहले चित्रपट के अर्थ को जान लेना अति आवश्यक है।

चित्रपट का अर्थः-चित्रपट बीसवीं शताब्दी का दिया हुआ एक अद्‌भुत उपहार है। आधुनिक समय में चित्रपट एक ऐसी विधा है जिसकी तरफ प्रत्येक व्यक्ति आकर्षित है।

''चित्रपट का अर्थ होता है कथाचित्र। समाज और मानव जीवन के विविध पक्ष सत्य या काल्पनिक रूप के माध्यम से चित्रपट में अभिव्यक्ति पाते हैं। कहानी चित्रपट का मूल आधार होता है तथा इस आधार पर ही पात्र, चरित्र, घटनाऐं, संवाद, गीत-संगीत आदि का भवन खड़ा होता है।''[17]

चित्रपट के धरातल पर अनुराधा पौडवाल ने वैष्णव संप्रदाय का प्रचार-प्रसार करने के मूल उद्देश्य पर बनी कई फिल्मों में भजनों को अपनी चित्तआकर्षक ध्वनि में गाकर वैष्णव मत के प्रचार-प्रसार में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने इस मत के अंतर्गत भगवान् विष्णु तथा श्री कृष्ण भक्ति पर आधारित फिल्मों में भक्ति भावना से ओतप्रोत रचनाओं को गाकर भक्ति संगीत का खूब प्रचार-प्रसार किया।

उन्होंने वैष्णव मत के अंतर्गत भगवान विष्णु की भक्ति से ओतप्रोत बने चित्रपट श्री सत्यनारायण व्रत कथा में भजनों का गायन एकल के साथ-साथ युगल रूप में किया। यह चित्रपट 1995 में निर्माता गुलशन कुमार के द्वारा निर्मित किया गया। इस चित्रपट में अनुराधा पौडवाल ने हे नारायण जगदीश्वर, सत्यनारायण जय जयकार करो रे, जय जय सत्यनारायण स्वामी भजनों का गुणगान बड़े ही मनमोहक एवं भावुकता से किया है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने इसी संप्रदाय के अंतर्गत भगवान श्री कृष्ण जी की महिमा में बने चित्रपट भगवान श्री कृष्ण, संत ज्ञानेश्वर, चार धाम चित्रपट में अपनी मधुर ध्वनि से भक्ति संगीत का जो प्रचार-प्रसार किया वह अविस्मरणीय है।

चित्रपट भगवान श्री कृष्ण 1985 को रिलीज़ किया गया। इस चित्रपट में अनुराधा पौडवाल ने श्री कृष्ण की बाल क्रीड़ाओं एवं रास लीलाओं का वर्णन गायन के माध्यम से किया है। इस चित्रपट में उन्होंने यशोदा तेरा नंद दुलारा भजन में भगवान श्री कृष्ण जी के नटखट स्वरूप का वर्णन गायन के तहत सुंदर स्वरों में किया है। इस भजन का संगीत अविनाश व्यास ने तैयार किया है।

संत ज्ञानेश्वर चित्रपट 2000 को टी-सीरीज़ कंपनी के द्वारा रिलीज़ किया गया। इस चित्रपट का निर्माण फिल्म निर्माता गुलशन कुमार ने किया। इस चित्रपट मेंअनुराधा पौडवाल ने कान्हा रे कान्हा रे, कृष्ण कन्हैया कृष्ण कन्हैया, प्रेम के सांचे में भजनों का गुणगान बड़ी ही मधुरता से किया। अनुराधा पौडवाल के द्वारा गाये गये भजनों में भावों का ऐसा निचोड़ है जो सुनने वाले श्रद्धालु के अंदर गहराई तक जाता हुआ उस पारब्रह्म परमेश्वर के साथ एक अलौकिक संबंध स्थापित करता है।

इसी प्रकार चार धाम चित्रपट जो 1997 को गुलशन कुमार ने रिलीज़ किया में भगवान विष्णु श्री राम तथा श्री कृष्ण जी की महिमा में करलो करलो चारो धाम, चार धाम की आरती भजनों का गायन युगल रूप में हरिहरन तथा सुरेश वाडेकर के साथ किया। इन भजनों में अनुराधा पौडवाल ने भारत के चार धाम रामेश्वरम्, द्वारका, बद्रीनाथ एवं जगन्नाथपुरी की महिमा का वर्णन किया है। इस चित्रपट के सभी भजनों का संगीत सुरेन्द्र कोहली ने तैयार किया है।

इस प्रकार अनुराधा पौडवाल ने इन भक्तिपरक चित्रपटों में भजनों का गायन विभिन्न प्रकार के रागों जैसे चारूकेशी, सिंधी भैरवी का गायन दादरा कहरवा तालों में किया है। इस प्रकार उन्होंने चित्रपट के माध्यम से वैष्णव मत का बहुत प्रचार-प्रसार किया।

लेकिन उन्होंने जहां चित्रपट के माध्यम से वैष्णव मत का प्रचार-प्रसार किया। वहीं गैर-चित्रपट के अंतर्गत जैसे कैसेट, सी॰डी॰ के माध्यम से भी वैष्णव मत का प्रचार-प्रसार करने में भी अपनी विशेष भूमिका निभाई जो इस प्रकार हैः-

वैष्णव मत का प्रचार गैर-चित्रपट के आधार परः-अनुराधा पौडवाल फिल्म इंडस्ट्री की पहली ऐसी पार्श्व गायिका हैं जिन्हें भक्ति संगीत में सी॰डी॰, कैसेट के कवर पर अन्य पार्श्व गायकों की तुलना में कहीं ज्यादा देखा गया है।

गैर-फिल्मी संगीतः-गैर फिल्मी संगीत एक ऐसा माध्यम है जिसमें कैसेट, सी॰डी॰, के माध्यम से संगीत की प्रत्येक विधा जैसे शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत, फ्युज़न संगीत, लोक संगीत एवं पाश्चात्य संगीत का प्रचार-प्रसार देश के कोने कोने में हो रहा है।निजी संगीत के माध्यम से जहां संगीत की उपरोक्त विधाओं का प्रचार-प्रसार हुआ वहीं भक्ति संगीत का भी खूब प्रचार हुआ। भक्ति संगीत जगत् में अनुराधा पौडवाल एक ऐसा नाम है जिन्होंने विभिन्न धर्मों की धार्मिक रचनाओं को विभिन्न भाषाओं में गाकर अपनी एक अलग पहचान बनाई है। उन्होंने आडियो कैसेट,सी॰डी॰ के माध्यम से धार्मिक ग्रंथों के श्लोकों, भजनों, मंत्रों, स्तोत्रों को जन-मानस में लोकप्रिय बनाया है। वैष्णव मत की बात की जाए तो गैर चित्रपट में भी अनुराधा पौडवाल ने वैष्णव मत की भक्ति धारा का खूब प्रचार-प्रसार किया है।

वैष्णव मत की भक्तिपरक रचनाओं का गायनः-अनुराधा पौडवाल ने इस श्रेणी के अंतर्गत गैर-चित्रपट के माध्यम से वैष्णव संप्रदाय में भगवान विष्णु, भगवान श्री राम तथा श्री कृष्ण जी की महिमा में श्लोकों, सहस्त्रनाम, स्तुति, धुन ,अमृतवाणी इत्यादि का गुणगान अपनी मधुर आवाज़ में कर वैष्णव संप्रदाय की भक्ति का प्रचार-प्रसार करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया जो इस प्रकार हैः-

भगवान विष्णु जी से संबंधित भक्तिपरक रचनाओं का गायनः-अनुराधा पौडवाल के द्वारा भगवान विष्णु की भक्ति में गायी गई धार्मिक रचनाओं की कुछ कृतियों का विस्तृत वर्णन इस प्रकार हैः-

श्री विष्णु स्तुतिः-श्री विष्णु स्तुति कैसेट 1997 को टी-सीरीज़ कंपनी के द्वारा रिलीज़ की गई है जिसमें अनुराधा पौडवाल ने भगवान विष्णु की स्तुति में श्री विष्णु सहस्त्रनाम, स्तोत्रों में विष्णु जी के एक हज़ार नामों का गुणगान किया है। इसके अलावा उन्होंने श्री बद्रीनाथ सुप्रभात, श्री विष्णु चालीसा, वैष्णव जन तो तेने कहिये जे जैसी धार्मिक रचनाओं का गायन किया है। उनके द्वारा मधुर आवाज़ में गाए गए श्री विष्णु चालीसा में राग मिश्र आसा, बिलावल, अहीरी रागों की छाया पड़ती है तथा इन रचनाओं को कहरवा ताल में गाया गया है।

श्री विष्णु अमृतवाणीः- वर्ष 1998 में टी-सीरीज़ कंपनी के द्वारा रिलीज़ की गई इस कैसेट में अनुराधा पौडवाल ने भगवान विष्णु जी की अमृतवाणी का गायन राग आसा तथा बिलावल के स्वरों की सांगीतिक धुनों में कर भगवान विष्णु की महिमा का गुणगान जन-जन को आकर्षित किया।

श्री विष्णु गायत्री महामंत्रः-इस कैसेट को 2001 में टी-सीरीज़ कंपनी ने रिलीज़ किया। इसमें अनुराधा पौडवाल ने श्री विष्णु गायत्री महामंत्र में मंत्रों का गायन संस्कृत जैसी क्लिष्ट भाषा में राग कल्याण तथा कहरवा ताल में बहुत मधुरता से किया।

इस प्रकार विष्णु भक्ति में गाई गई इन रचनाओं को सुनकर एक अलौकिक आनंद की उत्पत्ति होती है।वैष्णव संप्रदाय में भगवान विष्णु जी की महिमा का गुणगान करने के अतिरिक्त उन्होंने श्री राम जी की भक्ति में भी धार्मिक भजनों, श्लोकों आदि का गायन कर वैष्णव मत का प्रचार-प्रसार किया है जो इस प्रकार हैः-

भगवान श्री राम जी से संबंधित भक्तिपरक रचनाएँः-अनुराधा पौडवाल ने वैष्णव संप्रदाय में भगवान श्री राम जी की अराधना में स्तुति, अमृतवाणी, श्लोकों, मंत्रों, धुन, चौपाईयों, रामायण पाठ का गायन सांगीतिक धुनों में कर भक्ति का प्रचार-प्रसार किया है। उनके द्वारा गाई गई भगवान की कुछ कृतियों का वर्णन इस प्रकार हैः-

तुलसीभजनामृतः-यह कैसेट 1988 को टी-सीरीज़ कंपनी द्वारा रिलीज़ की गई है जिसकी सभी रचनाऐं संत गोस्वामी तुलसीदास के द्वारा लिखी गई हैं। यद्यपि बहुत से कलाकारों ने इन रचनाओं का गायन नवीन सांगीतिक धुनों में किया है। इस

कैसेट में उन्होंने पावन प्रेम राम चरण कमल, ठुमक चलत रामचंद्र, कली नाम काम तरु राम को, राम प्रीति की रीति आप निके, श्री रामचंद्र कृपालु भजमन, झूलत राम पलने में इत्यादि भजनों का गायन किया है। इस कैसेट के बहुत ही लोकप्रिय भजन ठुमक चलत राम चंद्र का गायन अनुराधा पौडवाल ने राग मिश्र पीलू के स्वरों तथा दादरा ताल में किया है।

श्री राम चरित मालाः-यह कैसेट 1989 को टी-सीरीज़ कंपनी के द्वारा रिलीज़ की गई है। इसमें रामायण के एक सौ आठ मनके की माला का गायन स्वरों की लड़ी में पिरोकर किया गया है।

राम धुनिः-इस कैसेट में अनुराधा पौडवाल ने रघुपति राघव राजा राम, जय रघुनंदन जय सीया राम, रघुनंदन राघव राम हरे, श्री राम चंद्र कृपालु भजमन तथा श्री राम जय राम (धुनि) इत्यादि पारंपरिक रचनाओं का गायन विभिन्न रागों के स्वरों में किया है। श्री राम चंद्र कृपालु भजमन भजन जो कि अवधि तथा ब्रज भाषा में है को राग यमन कल्याण तथा रूपक ताल में गाया गया है।

तुलसीरामायणः-तुलसीरामायण कैसेट जो कि 1997 को टी-सीरीज़ कंपनी के द्वारा रिलीज़ की गई में उन्होंने संत गोस्वामी तुलसीदास जी के द्वारा विरचित रामायण के आठों अध्यायों को विभिन्न रागों के स्वरों में मधुरता से गाया है। उन्होंने इस ग्रंथ के संस्कृत श्लोकों को सांगीतिक धुनों में गाकर जन मानस को सांगीतिक धुनों में गाई गई रामायण की धरोहर भी प्रदान की है।

श्री कृष्ण जी की भक्तिपरक रचनाएँः-अनुराधा पौडवाल ने भगवान श्री कृष्ण जी की भक्ति में विभिन्न भक्तिपरक रचनाओं जैसे परमार्ध, मुरलिया बाजे यमुना तीर, हरि-हरि गोविंद बोल, मेरे मन में बसो घनश्याम, छोटो सो मेरो कृष्ण गोपाल इत्यादि रचनाओं का हिंदी एवं संस्कृत भाषा में गायन किया है। उनके द्वारा श्री कृष्ण जी की महिमा में गाये गये भजनों की कुछ कृतियों का विस्तृत विवरण इस प्रकार हैः-

परमार्थः- अनुराधा पौडवाल ने परमार्थ(गीता सार)कैसेट जो 1990 को टी-सीरीज़ कंपनी के द्वारा रिलीज़ की गई, उसमें गीता के सार को संगीत की मधुर स्वरावलियों में गाकर प्रस्तुत किया है।

श्रीमद्भगवद्गीता अमृतवाणीः- इस कैसेट में अनुराधा पौडवाल नेश्रीमद्भगवद्गीता के अठारह अध्यायों का पाठ सांगीतिक धुनों में कर वैष्णव भक्ति का प्रचार-प्रसार करने में अपनी विशेष भूमिका निभाई।

इसके अतिरिक्त अनुराधा पौडवाल ने मीरा कैसेट जो कि 1988 को टी-सीरीज़ कंपनी के द्वारा रिलीज की गई, में मीरा बाई जी के द्वारा लिखी गई भगवान श्री कृष्ण जी की भक्ति में धार्मिक रचनाओं को अपनी मधुर आवाज़ में गाकर श्री कृष्ण भगवान जी की अराधना की गई है।

इसमें अनुराधा पौडवाल ने ऐ री मै तो प्रेम दीवानी, माई री मैंने गोविंद लीनो मोल, मत जा मत जा, सांवरा म्हारी प्रीत निभाज्यो जी इत्यादि भजनों का गायन किया है। इन भजनों का गायन उन्होंने राग भैरवी, मधुवंती, पीलू, देस, यमनी बिलावल के स्वरों में किया है। उनके द्वारा गाई गई रचना घनन घनन श्याम बरसत, पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे इत्यादि भजनों में शास्त्रीयता का पुट दिखाई देता है।

उनके द्वारा भक्ति संगीत के प्रचार-प्रसार में दिये गये योगदान के कारण उन्हें विशेषतः सुमु पुरस्कार से अलंकृत किया गया है। इसके इलावा देशों विदेशों में उन्हें लता मंगेशकर पुरस्कार, स्वर्ण रत्न पुरस्कार, ग्लोरी अवार्ड, कलाकार स्पेशल अवार्ड, प्रफुल्लकर सम्मान, रॉयल स्टेट मिर्ची अवार्ड इत्यादि विशेष पुरस्कारों से सम्मानित किया गया।

इस प्रकार अनुराधा पौडवाल फिल्मी संगीत जगत की एक ऐसी महान् महिला कलाकार हैं जिन्होंने संगीत की एक अलग विधा जिसे भक्ति संगीत कहते हैं, उसके प्रचार-प्रसार अपना एक विशेष योगदान दिया। वह एक ऐसी महान् गायिका है जिन्होंने हिन्दी फिल्मों के फिल्मी संगीत के ज़रिये भक्ति संगीत का प्रचार-प्रसार किया उससे कहीं अधिक फिल्मों तथा कैसेटों सी॰डी॰ के माध्यम से धार्मिक संगीत का प्रचार-प्रसार किया। उन्होंने चाहे लंबे समय तक संगीत की विधिवत् शिक्षा ग्रहण नहीं की परंतु उनकी गाई गई भक्तिपरक रचनाओं को सुनने से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें शास्त्रीय संगीत का विशेष ज्ञान है।

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से यह बात सहज़ ही स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी फिल्मी जगत् एवं गैर-फिल्मों में महिला कलाकार के रूप में अनुराधा पौडवाल का एक बहुत ही अहम् स्थान है। यूं तो कई कलाकारों ने भक्तिपरक रचनाओं का गायन कर भक्ति संगीत का प्रचार-प्रसार किया लेकिन अगर अनुराधा पौडवाल को देखा जाऐ तो जितनी भक्तिपरक रचनाओं को उन्होंने अपने सुरीले कण्ठ से गाकर जनमानस को मंत्रमुग्ध किया है शायद ही कोई दूसरा कलाकार भक्ति संगीत के क्षेत्र में इतना योगदान डाल पाया हो। भक्ति संगीत के प्रचार-प्रसार में अनुराधा पौडवाल द्वारा दी गई इस अद्वितीय देन के लिए संगीत जगत् एवं समाज सदैव उनका ऋणी रहेगा।

## संदर्भ ग्रंथ सूची


1. https:èèhindumahasagar.wordpress.com
2. हलायुव कोष, पृ. : 487
3. डा. भारती शर्मा, सांगीतिक एवम् धार्मिक परम्परा-एक अवलोकन, पृ.: 78
4. द्वारका दास अग्रवाल, प्रभु दर्शन, पृ. : 316
5. रेनू सचदेव, धार्मिक परम्पराएं एवम् हिन्दुस्तानी संगीत, पृ. :1
6. वही
7. सुश्री माधवी नानल, संगीत कला विहार, दिसंबर-2013, संगीत का अर्थ, डा. विनीता माहूरकर, पृ. : 12
8. मतंगमुनि, बृहद्देशी लोकः 17
9. तुलसीदास देवांगन, संगीत-भक्ति संगीत अंक, पृ. : 19
10. अनुराधा पौडवाल से दूरभाष में हुई वार्तालाप, तिथिः-04.07.2015
11. वही
12. वही
13. वही
14. www.facebook.com
15. www.kavitachhibeer. com
16. कविता पौडवाल (सुपुत्री अनुराधा पौडवाल) से दूरभाष में हुई वार्तालाप, तिथिः-03.02.2016
17. डॉ सुशील कुमार, चित्रपट संगीत के बहुआयामी संगीतकार मदन मोहन, पृ. : 10

# संगीत का मूल्यांकन : एक दृष्टिकोण

**डॉ0 श्रुति होड़ा**

संगीत एक उत्कृष्ट कला है। यह ललित कला महफिल की आनन्द दायक वस्तुओं का आभूषण, मानव के मनोरंजन का साधन, सन्तों के लिए आत्मानंद की मार्गदर्शक, प्रेमियों के जीवन की मित्र, विरहाग्नि से पीड़ित व्यक्तियों को सात्वना देने वाली, एकान्तवासियों की मित्र तथा सहायक और अपाहिज एवं आपदाग्रस्त प्राणियों की सहचरी और प्रेमिका ही नहीं, अपितु इस प्रकार के सैंकड़ो गुणों के अतिरिक्त इस कला में और भी अनेक विशेषताएँ है, जो अप्रत्यक्ष और अदृश्य होते हुए भी सहदयों को अस्वीकार नहीं है। यदि संगीत की कलात्मक गहराईयों, कठिनतम बारीकियों और महान सिद्धान्तों तथा नियम आदि के कठिन स्थलों की अपेक्षा करने कतिपय साधारण विशेषताओं पर ही दृष्टिपात् किया जाए तो निष्कर्षरूपेण यही कहना पड़ेगा कि संगीत मानव के लिए अति आवश्यक है।

सृष्टि के स्वर्णिम विहान से लेकर प्रलय की काली संध्या तक संगीत का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ता है। जीवन पथ के पृष्ठों को कहीं से भी पलटिये, कोई भी अध्याय तो ऐसा नही, जिसे संगीत से शून्य कहा जा सके। युग श्रष्टा मानव ने जन्म लेते ही गीत सुने और मृत्यु होने पर भी गीत सुनते-सुनते उसने श्मशान यात्रा की। घंटे घड़ियाल और राम नाम सत्य है की ध्वनियों के साथ उसका स्थूल शरीर भी शून्य में खो गया। क्षिति, जल, पावक, गगन समीरा, पंच रचित यह अधम शरीरा इन पाँच तत्वों से मिलकर मानव-शरीर का निर्माण होता है और यही तत्व जीवन के आधार माने गए हैं। इनमें जहाँ किसी एक की भी कमी हुई कि जीवन लीला समाप्त हुई। यही पाँच तत्व पृथ्वी का आधार माने जाते हैं। जड़ और चेतन की सृष्टि का अस्तित्व इन्हीं पर है। उधर वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि पाँचो उक्त तत्वों में संगीत प्रचुर मात्रा में विद्यमान है, उधर भावुक व्यक्ति प्रकृति के कण-कण में संगीत के निहित होने का दावा करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राणी मात्र की उत्पत्ति संगीतमय तत्वों से परिपूर्ण होती है। स्वर आत्मा का नाद है और आत्मा परमात्मा का स्वरूप। जिस प्रकार आत्मा का संबंध परमात्मा से माना जाता है उसी प्रकार स्वर का संबंध आत्मा से मानना पड़ेगा। इस युक्ति से संगीत और आत्मा का संबंध भी सुदृढ़ सिद्ध होता है।

भावुकता से हीन कोई कैसा भी पत्थर दिल क्यों न हो किन्तु संगीत से विमुख होने का दावा उसका भी नहीं माना जा सकता। कहावत है कि गाना और रोना सभी को आता है। संगीत की भाषा में जिन व्यक्तियों ने अपने विवेक, अभ्यास और तपस्चर्या के बल से स्वर और ताल पर अपना अधिकार कर लिया है उन्हें विज्ञ समाज में आदर है, उन्हें बड़ा गायक समझा जाता है। परन्तु अधिकांश जन समूह ऐसा होता है जो इस ललित कला की साधना और तपस्या से सर्वथा वंचित रह जाता है। ऐसे व्यक्तियों को गायक नहीं कहा जाता और न वे गायक कहलाने के पात्र ही होते हैं परन्तु गाना ऐसे लोग भी गाते हैं। इन लोगों के जीवन का संबंध भी संगीत से प्रचुर मात्रा में होता है। गाँव में गाये जाने वाले लोक गीतों के विभिन्न प्रकार कपड़े धोते समय, धोबियों के गीत, भीमकाय पाषाणों के उपर

एसोसिएट प्रोफेसर, वाद्यवादन, जी सी जी सेक्टर-11, चण्डीगढ़

चढ़ाते हुए श्रमिकों का गाना, खेतो में पानी देते समय किसानो द्वारा गाये जाने वाले गीत, पनघट की ग्रामीण युवतियों के गीत तथा पशु चराते समय ग्वालों का संगीत, इस कथन की पुष्टि के लिए यथेष्ट प्रमाण है। इस प्रकार के गीत तो दैनिक चर्या में गाये जाते हैं। किसी विशेष अवसर पर विवाह अथवा पुत्र-जन्मोत्सव पर अथवा किसी धार्मिक या सार्वजनिक समारोहों के अवसरो पर होने वाले कार्यक्रम तो गीत और नृत्य से परिपूर्ण होते ही है।

संगीत का निर्माण तीन वस्तुओं द्वारा होता है स्वर लय और ताल। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाए तो समस्त शरीरधारी और वर्तमान सृष्टि की प्रत्येक वस्तु उक्त विशेषताओं द्वारा नियंत्रित है। स्थूल जगत की प्रत्येक वस्तु में ध्वनि आन्दोलन या गति अर्थात स्वर और लय, परन्तु मनुष्य में तीसरी विशेषता शब्द अर्थात बोल भी विद्यमान है यह तीनो वस्तुएँ मानव जीवन का अवलम्ब है- जैसे संगीत का प्रथम भाग स्वर है जिस प्रकार संगीत में उतार-चढ़ाव होता है। यह प्राकृतिक रूप से मनुष्य में भी विद्यमान होता है। संगीत का द्वितीय भाग लय जिसे वज़न अथवा गति कहते है। यह प्रत्येक मानव में भी मौजूद रहती है जिसे हम श्वास, दम, नाड़ी का नाम देते है। यह सब विशेष गति के नियन्त्रण में चलते है अपितु मानव का चलना फिरना आदि क्रियायें भी लय के अन्तर्गत आती है। संगीत का तृतीय भाग बोल है, जो मनुष्य की वाणी से व्यक्त अथवा उदभूत होते है। यह भाग भी मनुष्य के साथ ही पैदा होता है और जीवन भर उसमें विद्यमान रहता है, इसी को वाक-शक्ति कहते हैं, जिसके कारण मानव को बुद्धिजीवी कहा गया है।

वास्तव में जिन वस्तुओं के योग से संगीत की सत्ता विद्यमान है, यदि उन्हें ध्यानपूर्वक देखा जाए तो उन्हीं चीजों पर मनुष्य का जीवन निर्भर है जब तक यह तीनों चीजें है मनुष्य जीवित है अन्यथा मृत कहलाता है अतः यदि कहा जाए कि मनुष्य जीवन का द्वितीय नाम संगीत है तो न्याययुक्त ही होगा।

संगीत एक अराधना है। इसका प्रमाण आज भी हमारे समक्ष है, मन्दिरों में प्राचीन काल से अब तक पूजन अर्चन के समय गायन वादन का प्रचलन विद्यमान है। इस समय गाई जाने वाली रागिनियों का गायन भी ऐसी स्वरावलियों से हुआ जिनके द्वारा तन्मयावस्था, करूणा के अश्रु और हृदय के निचले उदगारों के स्त्रोत उमड़ उठते हैं। इस के अतिरिक्त हमें प्राचीन ग्रन्थों तथा जन श्रुतियों द्वारा अनेक ऐसे प्रभाव मिलते हैं, जिनसे उक्त कथन पर पूर्ण विश्वास हो जाता है जैसे-

''हजरत दाऊद आलिया उल्सलाम का'' तलाब तजबूर के समय मुनरामीर तथा अन्य वाद्यों से काम लेना, ईसाईयों द्वारा गिरजाघरों में आज भी करूण रागों तथा संगीत वाद्यों का प्रयोग करना, हिन्दुओ द्वारा मन्दिरों में भजन तथा आरती गान की ईश्वरोपासना मानना, करूण रस प्रधान रागों का होना और मुसलमानों का तलावत कुरानेपाव अजाँ और कुर्रात नमाज में विशिष्ट तथा प्रभावपूर्ण आवाज़ का (स्वरावली का) प्रयोग करना।

उपरोक्त समस्त उपकरण हृदय में भावुकता, करूणा तथा तन्मयावस उत्पन्न करने के साधन है, जिनके माध्यम से मानव हृदय निर्मल होकर अपने पाप कर्मों का पश्चाताप करते हुए भगवद् अराधना की ओर प्रेरित होता है। निस्संदेह मानव का यही सर्वाधिक और सर्वोच्च स्वार्थ था, जिसके कारण संगीत का प्रादुर्भाव हुआ और संगीत के द्वारा ही उसके लक्ष्य की पूर्ति भी हुई। यदि हम संगीत की इन विशेषताओं की ओर ध्यान दे तो यह ललित कला हमे अभीष्ट तक पहुँचाने के लिए सर्वश्रेष्ठ मार्गदर्शक और संगिनी सिद्ध हो सकती है।

संगीत का आत्मा से सीधा संबंध है मानव जीवन का सर्वप्रधान लक्ष्य आत्मिक आनंद है, यह लक्ष्य संगीत के अतिरिक्त अन्य किसी माध्यम से प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा स्वयं इतनी आन्नद पूर्ण है, जिस का ज्ञान ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं किन्तु वह भी ललित कला (संगीत) से शक्ति प्राप्त करती है और इसीलिए यह कहावत प्रसिद्ध है कि जिस्म की गज़ा खाना और रूह की गज़ा गाना। जितनी आत्मा शुद्ध और निर्मल होगी, उतना ही उसका संगीत से लगाव होगा और वह इस कला से आन्नद प्राप्त करेगी। हकीम फीसा ग़ोरस के कथनानुसार समस्त जीवभूत संसार रागो से निर्मित है और इसी कारण आत्मा उनसे प्रभावित होती है। ऐसा माना जाता है कि वह प्रथम व्यक्ति

फीसा गोंरस ही है, जिसने राग तथा स्वरांदोलनो के सिद्धान्त आकाशी ग्रह-पिंडो के आधार पर निश्चित किये गए है। अर्थात संगीत ही आत्मानंद तथा आत्म-मार्ग का सर्वोच्च निर्देशक हैं।

संगीत में जादू जैसा असर है, इस वाक्य को चाहे हम किसी व्यक्ति के सम्मुख भी कहे, वह स्वीकृति-सूचक उत्तर ही देगा, नकारात्मक नही। यद्यपि उसने चाहे इस वाक्य को परीक्षा की कसौटी पर कभी न परखा हो तब भी अनुभव होने पर भी ऐसा कहा जाता। यह विचारणीय विषय है उस की यह स्वीकृति आत्मा और संगीत के संबंध की पुष्टि करती है।

आत्मा सत्य का स्वरूप है अतः वह सत्य की सत्ता को तुरन्त ही स्वीकार कर लेता है। इसका एक कारण संगीत की व्यापकता का दृश्य तथा संगीत के सम्बन्ध में कुछ सुनी हुई बातों का अनुभव भी हो सकता है। वर्षा ऋतु में नन्ही बून्दों का रिम-झिम-रिमझिम राग सुनते ही कोयल कूक उठती है। मोर नाचने लगते हैं, तथा मंजीरे बोल उठते हैं। लहलहाते खेतों को देख किसान आनंद विभोर हो उठता है और अनायास ही किसी परिचित मल्हार के बोल गा उठता है। यह ऐसा समय होता है जब प्रकृति के कण-कण में संगीत की सजीवता अनुभव होती है इन दिनो में हरियाली तीज त्यौहार सम्पन्न होता है। गाँव-गाँव और गली-गली में झूले के गीत, गुंजरित होते रहते हैं। इन दिनो गरीब की कुटिया से लेकर अमीरों के गगन-चुम्बी धवल प्रसादों तक लगभग इसी प्रकार का वातावरण देखने को मिलता है।

जीवन पथ के किसी मोड़ पर रूक कर देख लीजिए वहीं हमे संगीत मिलेगा दुख से सुख से, रूदन से हास से, योग से वियोग से मृत्यु से जीवन से। सारांश यही है कि जीवन की प्रत्येक अवस्था से संगीत की कड़ी अवश्य जुड़ी रहती है। युद्ध के मोर्चो पर उत्साह वृद्धि के लिए वर्तमान युग में भी विश्व के प्रत्येक राष्ट्र के सैनिक विभिन्न प्रकार के संगीत का ही प्रयोग करते हैं अट्टहास करती हुई मृत्यु के उस भयानक वातावरण में भी सैनिकों के मस्तिष्क का संतुलन बनाए रखने में और गगन भेदी तोपों के भयानक गर्जन में कर्त्तव्य की कसौटी पर खरे उतरने की शक्ति संगीत प्रदान करता है।

कहा जाता है कि "तंदुरस्ती हजार नयामत है" मानव के लिए अच्छा स्वास्थ्य होना अत्यन्त श्रेष्ठ और अमूल्य देन है। संगीत का मानव के स्वास्थ्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। जैसा कहा गया है-

*संगीत है शक्ति ईश्वर की*
*हर स्वर में बसे है राम।*
*रागी जो सुनाए रागिनी*
*रोगी को मिले आराम।*

प्रत्येक संगीत व ध्वनियाँ रोगियों के मन पर अलग-अलग प्रभाव डालती हैं। ध्वनिया भी गर्म, ठंडी व शुष्क होती हैं शब्द के परमाणुओ पर वातावरण का प्रभाव शीघ्र पड़ता है इसलिए नाद का गुण व प्रभाव वातावरण के अनुसार होता हैं वास्तव में ध्वनि की उत्पति कंपन अथवा अन्दोलन से होती है ध्वनि दो प्रकार की होती है- एक ध्वनि वह जो उत्पन्न होकर शान्त हो जाती है तथा जिसमें कंपन लगातार नहीं होते। दूसरी ध्वनि वह है जो उत्पन होकर कुछ देर ठहरने के बाद धीरे-धीरे शान्त होती है। ऐसी ध्वनि में कंपन लगातार होते हैं और जब कम्पन धीरे-धीरे समाप्त होते हैं तब ध्वनि शांत होती है। यह ध्वनि संगीतोपयोगी ध्वनि है, जिसको नाद कह कर पुकारा जाता है। नाद ही संगीत का आधार है। यही कारण है कि प्रकृति से उत्पन्न इस नाद का विभिन्न रागों की चिकित्सा में महत्वपूर्ण योगदान है। 9 अगस्त 2009 के दैनिक जागरण में संगीत के सुरों से होगा इलाज नामक एक लेख प्रकाशित हुआ। जिसमें लिखा था दिल्ली-मुम्बई जैसे महानगरों की भाग दौड़ भरी जिंदगी में हाई ब्लड प्रेशर, डिप्रेशन, तनाव और हृदय-रोग आम बीमारी बन गए हैं, लेकिन इनका इलाज संगीत से किया जा सकता है। तबला-वादक मुस्तफा हुसैन ने कहा कि मनुष्य प्रजाति एक-दो-तीन-चार की ताल में रही है। यही मूलभूत में है और पूरी सृष्टि इसी पर आधारित है। संगीत सकून तो देता ही है इसमें तनाव, हाई ब्लड प्रेशर, हृदय-रोग, डिप्रेशन जैसी तमाम बीमारियों को दूर करने की अचूक ताकत भी है। वास्तव में

स्वास्थ्य लाभ के लिए संगीत औषधि रहित चिकित्सा है।

पं॰ शारंगदेव ने अपने ग्रन्थ संगीत रत्नाकर में बाईस श्रुतियों का संबंध मानव हृदय की बाईस नाड़ियो से स्थापित किया है इनका यदि उचित प्रयोग किया जाए तो यह भी कई बीमारियों को दूर करने में सक्षम हैं।

प्रसन्नता की बात है कि आजकल विश्व के कुछ विशेषज्ञ एवं डाक्टर संगीत के रहस्यपूर्ण तत्वों के अनुसंधान में संलग्न हैं आजकल के परीक्षणों में अनेक ऐसी चमत्कार पूर्ण बातें मिली, जिनके द्वारा अनुसंधान संगीत के सुरों से होगा बीमारियों का इलाज, कर्ताओं का उत्साह बढ़ता ही चला जा रहा है। मानसिक रोगो पर पक्षघात अथवा फालिज की बीमारी पर संगीत की स्वर लहरियों ने आशातीत लाभ किया है। आस्ट्रेलिया के बुम्बीज (एक प्रकार के जंगली घोड़े) संगीत की सहायता से भारी संख्या में पालतू बन गए है। लंदन के एक अस्पताल में गूंगे, बहरे तथा पागलों पर किये जाने वाले संगीत के प्रयोगों में अच्छी खासी सफलता प्राप्त हुई है। इटली की कुमारी ऐलबोल लीरा के पति भारतीय एवं कुछ विदेशी समाचार पत्रों ने इस प्रकार के समाचार प्रकाशित किए हैं, जिन्हें पढ़ कर बरबस ही संगीत के चमत्कार को नमस्कार करना पड़ता है। पत्रों का कथन है कि कुमारी भोजन नहीं करती यह केवल संगीत पर ही जीवित रहती हैं।

अनुसंधान के वर्तमान युग में वह दिन दूर नहीं जब कि विज्ञानवेताओ द्वारा संगीत की छिपी हुई अनन्त शक्ति का भंडार सर्वसाधरण के समक्ष प्रकट हो जाएगा और मानव जीवन के सृजनात्मक कार्यो में इस के तत्वों का अधिकाधिक प्रयोग होगा। तब हमारा मानव समाज जीवन और संगीत के संबंधों को और भी अधिक स्पष्ट रूप में समझ सकेगा। ऐसी आशा की जाती है। संगीत साधकों के पास संगीति का ज्ञान रूपी अतुल्य औषधि के भंडार है जिसे वे इन रोगियों में बाँट कर सेवा का लाभ प्राप्त कर सकते हैं! संगीतज्ञो तथा संगीत चिकित्सकों ने संगीत के प्रभावों को देखते हुए उसे दैनिक दिनचर्या में अपनाने का सुझाव दिया है। आजकल विश्व के अनेक विशेषज्ञ एवं चिकित्सक संगीत के रहस्यपूर्ण तत्वों के अनुसंधान में जुटे हैं परीक्षणों में अनेक ऐसे आश्चर्यजनक तथ्य सामने आए है कि अनुसंधान कर्त्ताओं को उत्साहित कर रहे हैं। इसमें कोई संदेह नही है कि संगीत का प्रभाव मस्तिष्क तथा शरीर पर एक स्वस्थ प्रभाव छोड़ता है। संगीत चिकित्सा का वांछित प्रभाव तभी पड़ सकता है जब वांछित संगीत का प्रयोग किया जाए। हम निःसंदेह कह सकते है कि संगीत मनुष्य के लिए संजीवनी बूटी है।

# सूफी संगीत का भारतीय संगीत पर प्रभाव

**डॉ. अजू कुमारी**

प्रत्येक धर्म के दो पहलू होते है, एक आन्तरिक और एक बाह्य। इसी प्रकार इस्लामिक धर्म के बाह्य रूप में उसका सम्बन्ध रीति रिवाजों से होता है जबकि आन्तरिक रूप से उसका सम्बंध धर्म के रहस्यवाद, आध्यात्मवाद से होता है जिसे ''तसव्वुफ'' कहा जाता है जो ''सूफी'' के लिए सर्वाधिक उपयुक्त अरबी शब्द माना जाता है और इसी ''तसव्वुफ'' में विश्वास रखने वाले सूफी कहे जाते है। सूफियों के कई सिलसिले प्रचलित थे। आइने अकबरी में अबुल-फजल ने 14 सूफी सिलसिलों का विवरण दिया है किन्तु इसमें 4 ही ऐसे सिलसिले हैं जिनका भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा हैं। इनमें चिश्ती, सुहरावर्दी, कादिरी और नक्शबन्दी मुख्य हैं।

सूफियों द्वारा प्रयुक्त संगीत को 'समा' कहा जाता है। समा अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है पढना, गाना आरंभ में सूफी एक जगह जमा हो जाते थे तथा सामूहिक रूप से ईश्वर के नामों का जाप करते थे जब ये जाप करते थे तो उसमें एक प्रकार के संगीत की लय निकलती थी। जिसे ''समा'' कहा जाता था। सूफियों का मानना था कि जब वे समा करते है तो उससे एक प्रकार के आनन्द की अभिव्यक्ति होती है तथा ईश्वर के प्रेम की ज्वाला हृदय में भड़कती है तब लोग भावोद्रेक के कारण अचेत हो जाते हैं। झूमते-झूमते गिर जाते हैं उन्हें हाल आ जाता हैं। सारांशतः वे समा की पराकाष्ठां पर पहुँचकर सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन हुआ, हजरत मोहम्मद साहब की प्रशंसा में गीत गाये जाने लगे और सामूहिक नृत्य भी होने लगे और कुछ वाद्यों का भी उपयोग होने लगा जिसके कारण धर्माचार्यों द्वारा इसकी बहुत आलोचना होने लगी। किन्तु वास्तव में इस्लाम में कहीं भी संगीत को त्याज्य नहीं माना गया है। वास्तव में इस्लाम में भी ''समा'' की सत्ता किसी रूप में बनी रही और अवसर आने पर अनेक बार सूफियों में फूट भी पड़ी सूफी परम्परा के भावधारा का आधार प्रेम हैं जिसे इश्क की संज्ञा से अभिहित किया गया है इश्क मिजाजी से इश्क हकीकी तक पहुँचने का सूफी परम्परा अनुमोदन करती है। प्रेम का मूल है श्रृंगार रस और श्रृंगार रस की अभिव्यंजना के लिए संगीत से सशक्त माध्यम और कोई नहीं हो सकता। परिमाणतः सूफी संतो ने अपने आदर्शों, सिद्धांतो के प्रचार-प्रसार हेतु संगीत को माध्यम के रूप में चुना, संगीत ही वास्तव में ऐसा साधन था जो परस्पर प्रत्येक समुदाय को निकट लाने व प्रेम सौहार्द की भावना में बांधे रख सकता था सम्भवतः यही कारण था कि सूफियों ने तात्कालीन संगीत के कई तत्वों को आत्मसात कर दोनों ही संस्कृतियों के सम्मिश्रण से निर्मित एक नवीन ''सूफीयाना संगीत'' को जन्म दिया।

इस प्रकार ''समा'' में गाये जाने वाली गायन शैलियों यद्यपि तात्कालीन गायन के मूल प्रणाली को नहीं समझ सके तथापि भारतीय संगीत की स्वरावलियों ने उन्हें आकर्षित किया। इसी कारण उन्होंने अरबी, फारसी दोनों का सम्मिश्रण कर कौल, कल्बाना, नक्श-गुल, कव्वाली गजल तराना आदि गायन विधाओं का चित्रण किया।

''कव्वाली की उत्पति व विकास के सन्दर्भ में डॉ. रामशर्मा का मत है कि कव्वाली की मुख्य

अध्यक्ष, संगीत विभाग, एम. ए. एम. महाविद्यालय, नवगछिया, भागलपुर

विशेषता अरबी-फारसी, ईरानी-भारतीय संगीत का सम्मिश्रण है'' परमात्मा की प्रशंसा या उसकी शान में गाना अथवा विरहावस्था में उसका स्मरण करना कव्वाली के माध्यम से सम्पन्न होता है। कव्वाली सूफीयाना संगीत की विशेष गायकी है जिसका मूलरूप आध्यात्म को स्पर्श करता है यह समा का ही रूप है। कव्वाली में सूफी दर्शन, खुदारसूल की तारीफ, वसूदों शरीफ द्वारा मालिक से इल्तिजा, हुस्नों इश्क की रंगीनियत भरी शोखी, जश्न व महफिलों के मसले आदि शामिल होते हैं। सूफियों की यह विशेष गायकी भारतीय संगीत में स्वीकारणीय हो गई है तथा वर्तमान समय में यह भक्ति संगीत, सुगम संगीत चित्रपट संगीत आदि सभी क्षेत्रों में एक स्वतंत्र विधा के रूप में सम्मानित है।

सूफी संगीत में ''कौल'' विधा महत्वपूर्ण जो अरबी भाषा का शब्द है इसका अर्थ कथन, वचन, प्रवचन होता है। कौल में गम्भीर रागों के टुकड़े लिये जाते हैं। इसी प्रकार नक्श-निगार भी वर्तमान समय में मौसम बहार तथा मल्हार ऋतु में गाये जाते है।

''धमार उस गाने का नाम है जो सूफियों के महफिल में गाया जाता है जब सूफियाएं कराम खड़े होकर एक दूसरे का हाथ पकड़कर और वृत्त बनाकर नृत्य करते व सबके पांव कव्वाल के इस गाने के वजन पर उठते और बढ़ते हैं साथ ही इसके जो ताल बजायी जाती वो ''धमार'' ताल में बंधी होती थी जिसे आधुनिक काल में ''धमार कहा जाता है।

उपरोक्त गायन शैलियों के साथ-2 अन्य विधायों जैसे तराना, ठुमरी भी हिन्दुस्तानी संगीत गायकी में सूफी परम्परा के तत्व दिखाती है तराना गायकी में यद्यपि निरर्थक शब्द होते हैं तथापि सूफियों ने उसमें फारसी शायरी जोड़कर उसे भी एक सार्थक आयाम दिया। आगे चलकर अनेक सार्थक शब्दों से युक्त तराने गीत लिखने का भी प्रयास किया गया जो सूफी परम्परा से पूर्ण प्रभावित हैं। उस्ताद अमीर खाँ ने शोध द्वारा तराने के शब्दों का अर्थ निकालने का प्रयास किया है जैसे-यली-या इलाही, यला-या अल्लाह।

ठुमरी गायकी वियोग अथवा विप्रलम्भ श्रृंगार से ओत प्रोत हैं इसमें भावों का विशेष महत्व होता है जिस प्रकार जीवात्मा परमात्मा के वियोग में व्याकुल होती है यह विराहावस्था सामान्य होकर भी विशिष्ट व सूफियाना होती है। जब भक्त को ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती तो वह व्याकुल होकर गाता है सूफियों की खानकाहों में मुखरित होने वाला संगीत में भी यही व्याकुलता झलकती हैं ऐसे उदाहरण है जिनमें नायिका (भक्त) मिलने को तत्पर व व्याकुल है।

1 बाबुल मोरा नैहर छूटो जाय।

2 सैया बिना घर सूना, सूना।

निर्गुण निराकार ईश्वर प्रेम को प्राप्त कर लेने की अभिलाषा सभी धर्मों को वर्तमान समय में भी उनके प्रति आकृष्ट करती हैं। संगीत व ईश्वरीय आस्था का सुन्दर सम्मिश्रण बहुत कम देखने को मिलता है।

इस प्रकार सूफी परम्परा से भारतीय संगीत को अनेक अनमोल रत्न प्राप्त हुए। सूफियों ने तराने को जहाँ सार्थक आयाम दिया तो कव्वाली जैसी अनूठी गायनशैली का प्रभाव हिन्दुस्तानी भक्ति संगीत कीर्तन व सत्संग पर भी प्रभाव पड़ा। सूफियों की परम्परा लोक गीतों पर आधारित थी इसी कारण पंजाब के लोकगीतों में विशेषतः सूफीयाना मनोवृत्ति के गीतों का अस्तित्व मिलता है। इसके अतिरिक्त राम-सीता की खोज में विलाप करते वन-वन भटकना, कृष्ण के विरह में गोपियों का व्याकुल होना आदि अनेक स्थानों पर हमें सूफी दर्शन की मान्यता ही झलकती है। वस्तुतः भारतीय पौराणिक वाड्मय से सूफी काफी प्रभावित थे। इसी कारण उनके संगीत में भारतीयता व भारतीय दर्शन का पुट मिलना अस्वाभाविक नहीं है इसीलिए भारतीय लोक जीवन में सूफी संगीत के प्रति इतना रूझान देखने को मिलता है। इसी से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किस सीमा तक सूफी संगीत ने भारतीय संगीत को प्रभावित किया।

# मिथिला के लोक संगीत में मोदलता विवाह पदावली का योगदान

**डॉ. बिजली कुमारी**

आराध्य कीर्त्तन को लोक संगीत से जोड़कर लोकप्रिय हुए सखी संप्रदाय के संतों में महत्त्वपूर्ण स्थान को प्राप्त करने वाले लक्ष्मण शरण ''मोदलता'' रचित एक उत्कृष्ट कोटि का सांगीतिक ग्रंथ है 'मोदलता विवाह पदावली'।

1990 ई. में 'मोदलता विवाह पदावली' नाम से एक संग्रह प्रकाशित हुआ जो पाँच सौ उन्नीस पदों का संग्रह है। 2008 में 'मोदलता विवाह पदावली' नाम से चुन्निदा 468 पदों का एक नवीन संस्करण प्रकाशित हुआ जो तीन भागों में विभक्त है जिसमें प्रथम भाग में—श्रीगुरु वन्दना, श्री गणेश वंदना, श्री मारुति वंदना, फुलवारी प्रसंग, स्वयंवर, जयमाल, मडवा छड़ावन, सुमंगली, धनबटी, मटकोर, हरदि बुकावन, उवटावन, चुमावन, आरती, तिलक चढ़ावन, मंगल देवाराधन, बारात आगमन, जल्वा जनवासे की, मात्रिका पूजन, बरियात परिछन, दुल्हा प्रकरण, दुल्हा परिछन, घुरछक, वटगमनी, गाल सेकाई, अन्दर परिछन, मंडप समीप चलवाक, मंडप परिक्रमा, कन्या निरीक्षण, अठोंगर, दुलहा नहछू, गोत्राध्याय, पाणि-ग्रहण, वर-कन्या का प्रतिज्ञा, कन्यादान, सप्तभामरि, सिन्दूरदान, दुर्वाक्षत मंत्र, लहकौरी, मंडप झाँकी, घोघट, मंडप पर समधी गारी, मंडप से कोहबर प्रस्थान, द्वार छेकाई, कुल देवता पूजन, जुआ, वाती मिलावन, कोहबर हास्य, पाटी धराई, भेड़ा नथाई, पहेली बुझौअल, जेवनार, आचमन, पान-होली हेरान, दुलहा के हार, निन्दिया, विहाग, आरती, मोदित व्याह रहस्य, मंगल मधुपर्क, जगावनी, चौठारी, आरती, अम्बा के उपदेश, वारहमासा, विरह ज्वर कवित-गजल गूंजन आदि पद है।

दूसरे भाग में गौनोत्सव; (पौसद्ध), शिवरात्रि; (माघ) होली; (फागुन), श्री राम जयन्ती; (चैत्र), श्री जानकी नवमी; (वैशाख), यज्ञोपवीत उत्सव; (वैशाख), साकेत दिग्दर्शन; (वैशाख), श्री चन्द्रकला जयंती; (वैशाख), फूल बंगला; (ज्येष्ठ), रथयात्रा उत्सव; अषाढ़, झूला; (श्रावण), पचीसी; (श्रावण), जल विहार; (भाद्रपद), श्रीकृष्ण जन्मोत्सव; (भाद्रपद), साँझी; आश्विन, शरद पूजनोत्सव; आश्विन, श्री हनुमान जयंती; (कार्तिक), अन्नकूट सामा चकेवा ;(कार्त्तिक), के गीत हैं। इस प्रकार दूसरे भाग में विवाहेत्तर पदों का समायोजन किया गया है।

तीसरे भाग में प्रार्थना एवं मोद मंदिर से संबंधित पदों का संकलन हैं।

मिथिला का साहित्य प्रारंभ से ही गीत प्रधान रहे हैं। जिसका गायन राग और भास दोनों पद्धतियों से किये जाने की परंपरा रही है जिस आधार पर मिथिला में संगीत की दो पद्धतियाँ प्रचलित रही है। एक राग पद्धति एवं दूसरा भाषा पद्धति। गीत-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता होती है उस की गेयधर्मिता।

गीत में संगीत तत्त्व की विशेष महत्ता होती है, गीत होता है राग-ताल लयाश्रित अथवा भास आश्रित। राग-भास के संयोग से ही कोई मुक्तक काव्य-गीत की कोटि में परिगणित होने के योग्य होता है। अतः गीत का पदबन्ध राग-भास के अनुकूल होना आवश्यक होता है।[1]

प्राचीन संस्कृत साहित्य में राग-ताल निबद्ध पद्यों का सर्वत्र अभाव तो देखने को मिलता हैं किन्तु कालीदास रचित विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक में गीतों का सन्निवेश है।[2]

---

सहायक प्राध्यापिका, शिक्षा-शास्त्र संगीत (विभाग), एम. एल. टी. कॉलेज, सहरसा

राग-भास युक्त गीत लेखन की परंपरा के संदर्भ में डॉ. रामदेव झा का कथन है - वास्तव में राग-भास के साथ पदगान की परिपाटी का अर्विभाव देशी भास साहित्य के अविर्भाव के साथ हीं हुआ प्रतीत होता है। इसके अविर्भाव का क्षेत्र प्रायः प्राच्य भारत हीं था। कारण राग निर्देश के साथ रचित गीतों का प्राचीनतम उदाहरण प्राच्य भारत में आविर्भूत सिद्धान्तों के द्वारा रचित चर्या गीतों में प्राप्त होता है।[3]

चर्यागीतों की जो विशेषताऐं हैं वे सब जयदेव के गीतों में यथावत् देखने को मिलता है।

गीत-गोविन्द के पदों में तरलता और लयात्मकता का जो सम्मिश्रण है उसको देखते हुए विद्वानों का अनुमान हैं कि गीत-गोविन्द के पद मूलतः देशी भास में रचे गये थे पश्चात् उन्हें संस्कृत भाषा में रूपान्तरित किया गया । इसलिए डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने गीत-गोविन्द के पदों को भारतीय साहित्य मध्य नवयुग अर्थात् भाषा युग का परवेशगीत कहा है।[4]

13वीं एवं 14वीं शताब्दी में कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर के धूर्त्तसमागम में मैथिली गीतों का जो प्रयोग किया गया हैं उसमें राग-ताल का ध्रुवपद का प्रयोग मात्रिकछंद चरण-युग्म में अंत्यानुप्रास एवं गीतों के चरण तथा उदांत में कवि का एवं उनके आश्रयदाता का नाम प्राप्त होता है। गीतों में रागों के साथ तालों का भी निर्देश है। ज्योतिरीश्वर और आश्रयदाता का नाम गीतों में रागों के साथ तालों का भी निर्देश है लेकिन गीत रचना में पूर्व की परम्परा की अपेक्षा अनेक नवीन तत्त्व भी देखने को मिलता है। गीतों में मिथिला के लोक छन्द एवं लोकसंगीत का प्रभाव देखने को मिलता है। ज्योतिरीश्वर के पश्चात् लोक छन्द एवं लोक संगीत का व्यापक प्रभाव विद्यापति के गीतों में मिथिला की भास परंपरा के अनुरूप भास पूरक शब्दों का प्रयोग विभिन्न प्रामाणिक स्रोंतो में दृष्टिगोचर होता है। मिथिला की लोक संगीत पद्धति अर्थात् भास परंपरा में गीतों की रचना की यह परंपरा 19वीं एवं 20वीं शताब्दी में भी काफी समृद्ध रही और इसी परंपरा में आलोच्य संत साहित्यकार लक्ष्मण शरण मोदलता का अविर्भाव मिथिला में 1988 ई. में हुआ। मोदलता ने अपने पूर्ववर्त्ती मैथिल कवियों के उस आदर्शमय परंपरा एवं उनके प्रयोग को न केवल अपनाया बल्कि उनका अनुकरण कर मैथिल जन समुदाय जो शैव एवं शक्ति में अनुरक्त था उसको राम के प्रति निस्पृह रहने वाले मैथिली जन मानस में अपने संगीतमय पदों के माध्यम से भक्ति का प्रगाढ़रंग भर रामभक्ति की ओर आकर्षित कर मिथिला की आध्यात्मिक, साहित्यिक सांगीतिक एवं सांस्कृतिक परंपरा में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया जिसका ही एक सशक्त उदाहरण हैं 'मोदलता विवाह पदावली' कृति, जिसके सांगीतिक तत्त्वों के विश्लेषण के लिए मिथिला संगीत की भास परंपरा के अनुरूप विवेचन किया जा सकता हैं। क्योंकि 'मोदलता विवाह पदावली' के पदों के अवलोकन से ऐसा दृष्टिगोचर होता है कि मोदलता जी ने इसे मुख्य रूप से पारंपरिक मिथिला लोक संगीत अर्थात् भास पद्धति में हीं गीतों की रचना की है। यद्यपि इसके कुछ-कुछ पद आयाश्रित संगीत के रूप में भी देखने को मिलता है। 'मोदलता विवाह पदावली' के गीतों के सांगीतिक पक्ष का मूल्यांकण दो भागों में बाँट कर किया जा सकता है—(1) पारंपरिक लोक संगीत या भास पद्धति एवं; (2) आयातीत संगीत पद्धति।

(1) पारंपरिक लोक संगीत या भास पद्धति -

मिथिला में ईश्वर वन्दना के गायन की अपनी शैली रही हैं जो मिनती के नाम से जाना जाता है। मोदलता विवाह पदावली में वैदेही विवाह की प्रस्तुति से पूर्व गुरुवन्दना, गणेश बन्दना, सीता वन्दना की गई है। मिथिला की गायन पद्धति में किसी भी शुभकार्य का 'मोदलता विवाह पदावली' का प्रारंभ गुरुचरण की वन्दना से की गई है। वन्दना के इस मिनती में लोकगीत की गायन पद्धति का प्रभाव स्पष्ट परलक्षित होता है, जिसमें गुरुवर स्वामी का बार-बार जिक्र है जिसे भास पूर्वक शब्द भी कहा जा सकता है जो निम्नरुपक है -

*''जोनिन भ्रमत मोहि बित जुगनियाँ,*
*ऐ श्री गुरुवर स्वामी।*
*अब न सहल दुःख जाय*
*ऐ श्री गुरुवर स्वामी।।*

*सुमिरि सुमिरि सब अपने करनियाँ,*
*ऐ श्री गुरुवर स्वामी।*
*रहि रहि जिया घबड़ाय*
*ऐ श्री गुरुवर स्वामी॥*
*संसृति समनिया सुनि रावरी शरणियाँ,*
*हे गुरुवर स्वामी॥*
*गुनि मुनि हिया हुल साय,*
*ऐ श्री गुरुवर स्वामी॥*
*यहि जग बीच तजि पुज्य श्री चरणियाँ,*
*ऐ श्री गरुवर स्वामी।*
*मोद के न और उपाय,*
*ऐ श्री गुरुवर स्वामी॥5*

मिथिला में विवाह की विधियाँ जितनी ही जटिल है उस अवसर पर गाये जाने वाले गीतों के भी उतने ही प्रकार एवं उतने ही अलग-अलग प्रकार के भास हैं। मोदलता रचित 'मोदलता विवाह पदावली' के पद समूहों का वर्ण्य विषय मूलतः सीता-राम विवाहोत्सव है। अधिकांशतः मिथिला के वैवाहिक विधियों से जिसे मिथिला के पारंपरिक भास के अनुरूप गाया जा सकता है। जिसमें से कुछ पर यहाँ उदाहरणस्वरूप विचार किया जा रहा है -

मिथिला में विवाह से पूर्व मंडप बनाया जाता है और इससे संबद्ध गीत एक विशेष लय में गाया जाता है 'मोदलता ने 'मड़बा छड़ावन' विधि से संबद्ध पदों की रचना की है जिसमें भासपूरक वर्ण ''जी'' का प्रयोग किया गया है जो पद द्रष्टव्य है -

*'कथियहिँ मड़बा छवाय जनक नृप,*
*कथियहिँ खम्भ गराय जी।*
*कथियहिँ डोरिसँ बन्धन बांधि,*
*कथियहिँ कलश धराय जी।*
*हरित मणिन तृण मड़बा छवाओल,*
*मणियहिँ खम्भ गराय जी।*
*मणियहिँ डोरीसँ बन्धन बान्धल,*
*मणिक कलश धराय जी।*
*कथियहिँ चौक पुराय सुनैना रानी,*
*कथियहिँ लटु लटकाय जी।*
*तेहिपर आबि बैसाय रधुनन्दन,*
*ज्योति जगमग छाय जी।*
*लक्ष्मी सरस्वती मंगल गाबय,*
*गौरा विधि बताय जी।*
*राम सिया जू के होउ सुमंगलि,*
*'मोद' निरखि बलि जाय जी।'[6]*

मिथिला की वैवाहिक विधि में मंगल कार्य संपादन हेतु हरदि बुकावन की एक रस्म है इस विधि को संपन्न करते समय गीत गाने की परंपरा है जिसे मोदलता ने 'हरदिबुकावन' पद की संज्ञा दी है । जिसका भासपूरक शब्द है । उदाहरण स्वरूप 'मोदलता विवाह पदावली' के निम्न पद को देखा जा सकता है -

*'मंगल आजु सुहावन अतिमन भावन हे।*
*युगल संयोग बढ़ावन हरदि बुकावन हे।।*
*मिथिला सुख सरसावन रस बरसावन हे।*
*दम्पति पद दरसावन हरदि बुकावन हे।।*
*परम प्रीति प्रगटावन लगन लगावन हे।*
*लाल लली उवटावन हरदि बुकावन हे।।*
*निरखत जग के छुड़ावन आबन जाबन हे।*
*'मोदनि' हिय हरसावन हरिद बुकावन हे।।7*

चुमाओन का मानव जीवन के सभी संस्कारों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। चुमाओन के अवसर पर मिथिला में विशेष भास एवं छन्द में निबद्ध गीतों के गायन की परपंरा है। चुमाओन गीत के रूप में 'मोदलता विवाह पदावली' में चुमाओन शीर्षक से रचित एक पद द्रष्टव्य है -

*'सिय साँवली को सजनी चुमावति हैं,*
*मन्द मन्द मुसुकावति हैं।*
*दूभि धन धय धय शुभ अंगनि,*
*तिरछी नजरिया घुमावति हैं।*
*हैं कि सती की सची कि सरस्वती,*
*विष्णुप्रिया श्री रमा-रति हैं।*
*डाला परसि डुला सिर सेहरा,*
*दिव्य दमक दमकावति हैं।*
*'मोद' के हियरा हलकत सजनी,*
*जब तूँ हुमकि दवावति हैं।।[8]*

विवाह के अवसर पर मिथिला में वर का परिछनि किया जाता है। परिछनि के अवसर पर मधुर भाव

से परिपूर्ण गीतों का गायन किया जाता है । 'मोदलता विवाह पदावली' का एक परिछनि गीत द्रष्टव्य है -

*चलु देखिऔन जाय,*
*केहन जनक नृप लैलनि जमाय।*
*साजि नवसात चललि हरखाय,*
*लखितहिं दुल्लह गेलनि लोभाय।*
*मनमोहन सखि इनहि निहारि,*
*कोना कय बाँचल होइती अवधक नारि।*
*दशरथ गौर गौर दुइ सुत,*
*दुइ सुत श्यामल ई बड़ अजगुत।*
*केओ कह हिनक चतुर बड़ माय,*
*सुनि अज कुल सब हँसलि ठठाय।*
*जेहने सिया छथि छविक निधन,*
*तेहने वर देलथिन भगवान।*
*परिछन करय चलु 'मोद' चुपाय,*
*आलि दृग गड़ि गेल निकसे न हाय।*[9]

मिथिला में प्रायः वैवाहिक विधियों में ओठंगर गीत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस विधि में दुल्हे अपने हाथ से मूसल पकड़कर ओखली में पड़े धान को कूटते हैं उसी कूटे गये धन के चावल से विवाह की आगे की कई विधियाँ संपादित की जाती है। किसी पुरुष से ओखली में मूसर से चोट दिलवाना स्वयं में एक अनोखी विधि है। इस मौके पर मिथिला में गितगाईनियों द्वारा विशेष प्रकार का गीत गाये जाने की परंपरा रही है। इस अवसर पर गाये जाने वाले गीत का पारंपरिक या भासपूरक शब्द 'माई हे' देखने को मिलता है । मोदलता ने ओंठगर पद की रचना पारंपरिक छन्द योजना एवं भास योजना से अलग हटकर एक नवीन छन्द योजना एवं नवीन भास में की है जो द्रष्टव्य है -

*चितचोरवा आजु बन्हौलनि हे,*
*सब सान गुमान गमौलनि हे।*
*एहि चितचोरबा के सिर मणि मौरवा,*
*छोरबा दवि छहरौलनि हे।*
*एहि चितचोरबा के चोखे दृग कोरबा,*
*पार करेजबा कयलनि हे।*
*एहि चितचोरबा के लाली लाली ठोरबा,*
*मन मोरवा भोर बनौलनि हे।*
*चोरबा के आठो अंग बान्हू कसि डोरबा,*
*उधम अथोरबा मचौलनि हे।*
*सोने के उखरबा मणिन के मुसरबा,*
*आठे चोटे चउरबा बनौलनि हे।*
*सेहो रे चउरबा बन्हाय शुभ करबा,*
*सिय प्यारी वरबा कहौलनि हे।*
*चोरबा के भाग्य पर मोद बलिहरबा,*
*शुभे अठोंगरबा गओलनि हे।* [10]

बेटी विवाह के अवसर पर 'उचिती' एवं 'जेवनार' के विशेष भास पर गीतों के गायन की परंपरा रही है। मोदलता ने अपने 'उचिती' पद में 'जी' की जगह 'जू' का प्रयोग किया है जो द्रष्टव्य है -

*श्री मिथिलेश सदन आजु सजनी,*
*छाइ भीर अति भारी जू।*
*जेवन आय सुसमधि अवधपति,*
*सह समाज सुत चारी जू।*
*द्वारहिं भेंटि विदेह नह भरि,*
*लय शुचिकंचन झारी जू।*
*बरजि रहे बरजों नहि मानै,*
*निज कर चरण पखारी जू।*

मिथिला में सभी शुभअवसरों पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के क्रम में सामूहिक रूप से महिलाओं के द्वारा बटगमनी भास से युक्त गीतों का गायन किया जाता है। मोदलता ने अपने विवाह पदावली में कई पदों की रचना बटगवनी निर्देश के साथ किया है जिसमें मात्र तुकबंदी का प्रयोग हैं जिसके लिये निम्नपद द्रष्टव्य है-

*एकटा बात हमर कनै सुनि लियऽ।*
*ई विधि कय आगाँ पैर दियऽ।*
*एहि ठामक ई विधि प्रसिद्ध अछि,*
*माय बहिन केर नाम लियऽ।*
*पितु सँ सौ गुण माय अधिक छथि,*
*अपनहुँ देखि विचारि हियऽ।*
*बिना नाम जनने जननी केर,*
*गओती कोना गितगाइनि तियऽ।*
*'मोद' मन्द स्वर हँसि कहलनि मधुस्वर*
*ताकि तिरछि मुसुकाथि सियऽ।*[12]

मिथिला में भोजन के अवसर पर डहकन गीत की भी परंपरा रही है।

विवाह के मौके पर वधू पक्ष द्वारा वर पक्ष के लोगों को इस गीत के माध्यम से मीठी-मीठी गालियाँ दी जाती है। मोदलता ने इसका शीर्षक 'जेवनार' दिया है। मोदलता विवाह पदावली में डहकन गीत द्रष्टव्य है -

*'पाहुन कहू कोना गुण,*
*सुनि सुनि मन सकुचाइए।*
*अहाँक बहिनि सँ नेह करैए,*
*सैह अहाँकेँ सोहाइए।।*
*जकरा पर अहाँ नजरि करै छी,*
*तकरे गर लपटाइए।*
*लोक लाज कुल कानि अपन तौँ,*
*कनेक-कनेक कक्क खाइए।।*
*सब कुल कन्या परम विलक्षणि,*
*कनिको नहि शरमाइए।*
*एक पुरुश संग सुख नै करैए,*
*तीनु लोक बौआइए।।*
*नख सिख सुखमा देखि अहाँकेँ,*
*काम बेकाम बुझाइए।*
*'मोद' अवध के नागरि अनतह,*
*कुलटा बनि-बनि जाइए।।*[13]

मिथिला में 'तिरहुत' भास की परंपरा अत्यंत ही प्राचीन है। मोदलता विवाह पदावली रचित तिरहुत पद के भास में छन्द योजना के अन्तर्गत एक नवीन प्रयोग किया गया है। जिसे सांगीतिक प्रयोगधर्मिता कही जा सकती है। उदाहरणार्थ मोदलता विवाह पदावली का तिर्हुत पद द्रष्टव्य है -

*'आजुक सपन सखि हे कहू हम की।*
*माधुरि सीय पीय पी।*
*कहक युगल कयने एक्के हीये जी।*
*लखितहिँ छायल मोद रोम-रोम रंग*
*मति गति अति भेल दंग*
*निन्द निगोड़ी खुजि कयलक सुख भंग।*[14]

'पराती' ब्रह्ममूहर्त के उत्तरार्द्ध में गाया जाता है। मोदलता विवाह पदावली में मोदलता ने कई पराती के गीतों की रचना की है । जिसमें उन्होंने 'जागो ए जागो' की बारंबार आवृति कर पराती में परंपरा एंव आधुनिकता दोनों का सम्मिश्रण किया है। उदाहरणस्वरूप द्रष्टव्य है–

*सूरज किरणमा उगि अयलै भरि अंगनमा,*
*जागो ए जागो।*
*जागो मोर सीया के सजनमा,*
*जागो ए जागो।*
*खोलु-खोलु-खोलु प्यारे, अँखिया कंजनमा*
*जागो ए जागो।*
*'मोद' के प्रियवर परनमा।।*
*जागो ए जागो।।15*

बारहमासा मैथिली लोकगीत का एक विशिष्ट प्रभेद है । मोदलता विवाह पदावली में बारहमासा में भास पूरक के रूप में 'में' का प्रयोग किया गया है। द्रष्टव्य - अब छाड़ि ससुरारि, कहाँ जयबै सरकार, पिया रहि जइयौ मिथिला नगरिया मे।

*आब आयल पूस मास, हिय अतिहिँ हुलास,*
*सब साजू सुख रास ससुररिया में ।*
*अगहन उत्सव रचायब, गारि दय दय जेमायब,*
*'मुद' अस कहाँ जस ससुररिया मे।।16*

मिथिला में बेटी विदाई के अवसर पर समदाओन कारुणिक गीत की परंपरा है। मोदलता विवाह पदावली में समदाओन भाव का एक पद द्रष्टव्य है–

*आरे हाँ, कहि अस खसली मुरुछि रानी।*
*अरे हाँ, सब भह विकल करुण सानी।।*
*अरे हाँ, पोछउन के रानी के नयन नीर।*
*अरे हाँ, ककरो करेजा तँ नै छै थीर।।*
*अरे हाँ, तखने जनक नृप अयलनि।*
*अरे हाँ, बहुविधि धीरज बन्हयलनि।।*
*अरे हाँ, मोदिया के भाग्य खुलि गेलैक।*
*अरे हाँ, सिया संग सेबी आज्ञा भेलैक।।17*

मिथिला लोक संगीत परंपरा का एक प्रमुख भास है नचारी। जिसका एक उदाहरण मोदलता विवाह पदावली में द्रष्टव्य है -

*जय महेश जय महेश, शंकर त्रिपुरारी।*
*जय जय वामांग गौरि, गंग भंगधरी।।*
*नन्दीश्वर पर सवार, ज्ञान योग गुणाकार,*
*देहु रामभक्ति सार, मोदहिँ बलिहारी।।18*

इसी प्रकार मिथिला में महेशवाणी गायन की परंपरा अत्यंत ही प्राचीन रही है। मोदलता ने कई महेशवाणी पदों की रचना की है जिसमें महेशवाणी में पारंपरिक किसी भी भास पूरक शब्द का अभाव देखा जाता है द्रष्टव्य है -

*आगे मइया गे मइया।*
*नारद के दरद नदारद दइया।।*
*अपन उमाकेँ देखि चन्द्र मलीन।*
*ई बुढ़ धुथुर केर फाटल कोपीन।।*
*जँओ भल होथि हिमाचल राय।*
*घुरखुथु वर दुर मुका मुकिआय।।*
*'मोद' कि बैसल छथि मयना झमाय।*
*ई वर बैलाय देथु कबाछु लगाय।।*[19]

मिथिला में सोहर का गायन पुत्र के जन्म से लेकर विभिन्न मांगलिक संस्कारों के अवसर पर किया जाता है। सोहर भास मिथिला का अत्यंत हीं लोकप्रिय भास है। मिथिला में दो प्रकार के सोहर प्रचलित है - सामान्य सोहर एवं छंदपरक सोहर।

मोदलता ने कतिपय सामान्य सोहरों की रचना कर सोहर की रूढ़ धारणा को अपनी सोहर रचना के माध्यम से खंडित किया है, क्योंकि सोहर के संबंध में रूढ़ धारणा है कि इसे केवल पुत्र जन्म के खुशी में गाया जाता है लेकिन मोदलता ने सीता जन्म के खुशी में सोहर की रचना की है जिससे यह स्पष्ट है कि सोहर का गायन कन्या जन्म को पुत्र जन्म के बराबर प्रतिष्ठा देने जैसा है। सीता जी जनक की पुत्री थी। इसलिए सीता जन्म से संबंध मोदलता विवाह पदावली का सोहर द्रष्टव्य है -

*जनकपुरी आजु आनन्द आनन्द छायिय रे।*
*ललना रे, रानी सुनयना गुणखानि सुता शुभ पायिय रे।*
*जासु दास हित शम्भु समाधि लगायिय रे।*
*ललना रे, सेहो भक्त सुख दैन आप प्रगटायिय रे।*
*उमा रमा ब्रह्माणी रूप तजि धयिय रे।*
*ललना रे, निरखि लली मुखचन्द सबहिँ अरुझायिय रे।*
*सुर करु जय जय सोर सुमन बरिसायिय रे।*
*ललना रे, लखि लखि पद मुख 'मोद' सु सोहिलो गाड़य रे।*[20]

मिथिला में महिलाओं द्वारा श्रम संबंधि कार्य करते समय थकान से कार्य में होने वाले व्यवधान से बचने के लिए गीत गायी जाती है जिसे लगनी गीत कहा जाता है। यह लगनी गीत मुख्यतः चक्की चलाने के समय महिलाओं के द्वारा गाया जाता है । मोदलता के पदावली में लगनी भास परक एक पद द्रष्टव्य है- 'कि आहे मन साजनि, एहन समैया फेर नहि पायब रे की।

*एहि जग जहियासँ अयलहुँ, औरे के औरे भेलहुँ कि आहे मन साजनि, कौने जतनसँ प्रभु पद पायब रे की।*
*कयलहुँ विषय के कामना, पयलहुँ चौरासी भ्रमणा । कि आहे मन साजनि, आब न अन्तय मन लगायब रे की।*
*आबि कक्ष भारतखंड बीचे, रहलहुँ सुरसरि के लगीचे, कि आहे मन साजनि, गुरु मुख भय सुरति जमायब रे की।*
*निज पिया सुख के राशी, ओ तँ साकेतपुर वासी कि आहे मन साजनि, मोद मन्दिर से लाड़ लड़ायब रे की।*[21]

सावन मास में महिलाओं द्वारा वर्षा ऋतु का मनोरम वर्णन करते हुए कजरी गीत गाया जाता है। इसे ऋतु संबंध्ति गीत कहा जाता है। मोदलता विवाह पदावली में भी सावन मास के उत्सव के अन्तर्गत एक कजरी मास का पद भी देखा जाता है। जो पचीसी शीर्षक से अभिहित है-

*'सखिया आय सावन की झीसी ।*
*पिया संग खेलब पचीसी ना ।*
*छाई घटा की छटा सकल दिसि, हरी हरी सी ना।*
*जब हारय तब भागि जाय पिया, छयल छली सी ना।*
*पान खाय मुसुकात देखावय, दाँत बतीसी ना।*

मोदित नयन चकोर निरखि मुख, लोक गीतों की आत्मालोक संगीत है । लोक जीवन का सुन्दरतम प्रतिबिम्ब लोक गीत एवं लोक संगीत में दिखाई पड़ता है । संगीत शास्त्र की दृष्टि से लोक गीतों का महत्त्व अधिक है। मोदलता विवाह पदावली के गीत लोक गीतों की श्रेणी में आती है।

मोदलता विवाह पदावली में प्रायः सात शुद्ध स्वरों का एवं दो विकृत स्वरों का कोमल गांधार

और कोमल निषाद स्वरों का प्रयोग मिलता है। अर्थात् मोदलता विवाह पदावली में मुख्यतः विलावल, खमाज एवं काफी थोट के स्वर लगते है। मोदलता विवाह पदावली में संगीत के तत्त्व गीत धुन वाद्य का प्रयोग किया गया है। क्योंकि मोदलता विवाह पदावली के गीतों को लोक साहित्य के अन्तर्गत और उन गीतों के धुनों एवं उनके साथ-साथ प्रयुक्त वाद्यों को लोक संगीत के अन्तर्गत रखा जा सकता है। जिससे मोदलता विवाह पदावली में संगीत पक्ष का आकर्षण स्वतः ही हो जाता है। मोदलता विवाह पदावली में पदावली के गीतों के अन्तर्गत दो धाराएँ दिखाई पड़ती है जिसमें एकधारा उन गीतों की धुनों के रूप में तरंगित होती हैं तो दूसरी धारा विभिन्न वाद्यों की स्वर लय लहरियों का रूप धारण करती है।

मोदलता विवाह पदावली में स्वर वादयों का प्रयोग सुख-दुःख, हर्ष शोक के क्षणों में समान्य रूप से होते हैं। किन्तु ताल वादयों का प्रयोग हर्षोल्लास के लिए विशेष रूप से होता है। मोदलता विवाह पदावली में लयात्मकता का महत्त्व बहुत अधिक है लोक संगीत में मोदलता पदावली का गीत सार्वभौंम संगीत है जो प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय संकीर्णीताओं से परे रहकर अपने मौलिक सिद्धान्त के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विवैच्य रहा है। लोक गीतों में स्वरलिपि का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

## सन्दर्भ-ग्रंथ-सूची


1. संदर्भ निर्देश (1) मैथिली प्राचीन गीत मंजरी (सं.) रामदेवद झा, जेनरल बुक एजेंसी, पटना, 1991, पृष्ठ-5 (भूमिका-मैथिली गीत काव्यक परम्परा ओ विकास)
2. संदर्भ निर्देश (2) विक्रमोर्वशीय नाटक, कालिदास, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1971, पृ.-117
3. संदर्भ निर्देश (3) मैथिली प्राचीन गीत मंजरी (पूर्वोक्त-1) पृ.-6 (भूमिका)
4. संदर्भ निर्देश (4) जयदेव (भारतीय साहित्य के निर्माता), सुनीति कुमार चटर्जी, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1976, पृ.-8
5. संदर्भ निर्देश (5) मोदलता विवाह पदावली, मोदलता कृपा निकुंज, पहसौल, कटरा, मुजफ्फरपुर, 1990, पृ.-13 (पद सं.-1)
6. संदर्भ निर्देश (6) तत्रैव, पृ.- 15-16
7. संदर्भ निर्देश (7) तत्रैव, पृ.- 19
8. संदर्भ निर्देश (8) तत्रैव (पूर्वोक्त-5) पृ. - 20
9. संदर्भ निर्देश (9) तत्रैव, पृ.- 27
10. संदर्भ निर्देश (10) तत्रैव (पूर्वोक्त-5) पृ.- 45
11. संदर्भ निर्देश (11) तत्रैव (पूर्वोक्त-5) पृ.- 66-67
12. संदर्भ निर्देश (12) तत्रैव (पूर्वोक्त-5) पृ. -39
13. संदर्भ निर्देश (13) तत्रैव (पूर्वोक्त-5) पृ.- 70
14. संदर्भ निर्देश (14) तत्रैव (पूर्वोक्त-5) पृ.- 75
15. संदर्भ निर्देश (15) तत्रैव (पूर्वोक्त-5) पृ.- 77
16. संदर्भ निर्देश (16) तत्रैव, पृ.- 94-95
17. संदर्भ निर्देश (17) तत्रैव, पृ.- 94
18. संदर्भ निर्देश (18) तत्रैव, पृ.- 124
19. संदर्भ निर्देश (19) तत्रैव, पृ. - 124
20. संदर्भ निर्देश (20) तत्रैव, पृ.-141
21. संदर्भ निर्देश (21) तत्रैव, पृ.-176
22. संदर्भ निर्देश (21) तत्रैव, पृ.- 158

# संगीत और अध्यात्म

**अणिमा श्रीवास्तव**

संगीत के साथ साधना का संबंध सर्वमान्य है जो चिरकाल से चला आ रहा है। ज्योंहि संगीत के साथ साधना का योग होता है, त्योंहि संगीत में अध्यात्म की उपस्थिति परिलक्षित होती है, क्योंकि ''साधना'' शब्द अध्यात्म की परिणति है। संगीत के दर्शन के अनुसार आत्मा में संगीत का अधिष्ठान है। आत्मा, चित्त या अन्तःकरण में संपूर्ण संगीत का दिव्य गान, सतत् चलता रहता है जो रूपविहीन है, फिर भी अपूर्व, अलौकिक संगीत है। संगीत का दर्शन कहता है कि परमपूर्ण संगीत आत्मनिष्ठ है और वस्तुनिष्ठ स्वरूप दृश्य व श्रव्य संगीत है। भारत आध्यात्मिकता की भूमि है और संगीत का दर्शन यहाँ आध्यात्मिक साधना के रूप में लिया जाता है, जिससे मानव की चेतना उन्नत होती है। संगीत और अध्यात्म को विचारकों और विद्वानों ने किस प्रकार समझाया है पहले ये जानना आवश्यक है।

संगीत :- सामान्य तौर पर संगीत को एक मनोरंजक कला के रूप में समझा जाता है, जिसमें गायन वादन नृत्य का समावेश होता है। यह उन्नत ललित कला के रूप में प्रतिष्ठित है जो अपने विविध शक्तियों के प्रभाव से जन-मन रंजन करने में सक्षम है। जैसा कि पं. अहोबल ने कहा है :-

*''गीतवादित्रन्न त्यानां त्रयं संगीतमुच्यते।''*(1)

इन त्रिवेणी कलाओं का मूल रंजन में निहित है, जिसे रक्ति भी कहते है। पं. दामोदर ने इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए लिखा है :-

*''गीतवादिमत्यानां रक्ति : साधारणो गुणः।*
*अतो रक्तिविहीन यत्र तत् संगीतमुच्यते।।''*(2)

अर्थात अगर संगीत में रक्ति गुण नहीं है तो वह संगीत कहलाने का अधिकारी नहीं ''संगीत शब्द का अन्वय करते हुए लिखा गया है ''संगीत'' शब्द ''सम्फगै'' धातु से बना है। अर्थात - गीत शब्द में सम् उपसर्ग के योग से ''संगीत'' शब्द की उत्पति होती है। यह सम् उपसर्ग गीत के स्वरूप को व्यापक दृष्टि प्रदान करता है। इस प्रकार - ''सम्यक् प्रकारेण यद् गीयते तत्संगीतम्'' (3) इस प्रकार शाब्दिक अर्थ में जो गीत सम्यक् रूप से सर्वप्रकार से भली-भाँति गाया जा सके, उसे ही ''संगीत'' कहते है। किन्तु यह अर्थ संगीत के सामान्य अथवा संकुचित अर्थ का द्योतक है, संगीत अपने विशिष्ट अर्थ में जन-मन रंजन का साधन नहीं वरन् भवभंजन भी है। संगीत का आधार नाद है, नाद पर संगीत का भव्य प्रासाद स्थित है और विद्वानों ने ''नाद'' को न् केवल ध्वनि अर्थ में लिया है वरन् उसे ब्रह्म स्वरूप माना है। ऐसा ब्रह्म जो कण-कण में व्याप्त है और समस्त जगत् का कारोबार इसी के अधीनस्थ है। वृहदेशी का यह श्लोक इसी विशिष्ट अर्थ युक्त तथ्य की पुष्टि करता है—

*''न नादेन बिना गीतं न नादेन बिना स्वराः।*
*न नादेन बिना नृतं तस्मानुनादात्मकं जगत्।।''*(4)

आगम ग्रन्थों ने तो ''नाद'' को उपासना का साधन माना है। नाद से बड़ा न कोई मंत्र माना है और न नाद से बड़ी कोई पूजा मानी है। योगाशिखोपनिषद् में भी यही वर्णित है :-

*''नास्ति नाददात्परो मन्त्रों न देवः स्वात्मनः परः।*
*नादुसन्धे परा पूजा न हि तृप्तेः पर सुखम्।।''*(5)

संगीत अपने दिव्य स्वरों के प्रभाव से व्यक्ति के चित्तवृत्तियों के निरोध में भी समर्थ है। संगीत सर्वाधिक आत्मिक आनन्द प्रदान करने का सशक्त माध्यम है। संगीत में साधक को आनन्द और

भक्तिभाव में लीन करने की अपूर्व क्षमता है, जिससे साधक कब स्वरलहरियों के प्रभाव से भावविभोर हो आत्मिक आनन्द में सराबोर हो परमात्मा से संबंध स्थापित कर लेता है, पता ही नहीं चलता। तभी तो प्रारंभ से ही संगीत को मोक्ष प्रदायक माना गया है। ''याज्ञावलक्य स्मृति'' में कहा गया है।

*''वीणा वादन तत्वज्ञः श्रुति जाति विशारदः।*
*तालज्ञश्च प्रयासेन मोक्ष मार्ग च गच्छति।।''*(6)

अर्थात् जो व्यक्ति या साधक वीणा वादन का तत्व जानने, श्रुतियों की जाति को पहचानने में निपुण हो, वह तालों का ज्ञान रखता हो, वह बिना किसी परिश्रम के ही मोक्ष पा लेता है।

''पं. रविशंकर'' ने अपनी आत्मकथा 'My Music, My life' में लिखा है -

''संगीत के सोपान से ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है।''(7)

निःसदेह ही संगीत में चंचल वृत्तियों का शमन कर इष्ट के साथ एकीकरण कर आत्मा से परमात्मा मिलन कराने, आनन्द में तन्मयता लाने और अपूर्व शान्ति प्रदान करने की अद्‌भुत क्षमता है, इन्हीं अलौकिक गुणों के कारण भारतीय संगीत विश्व संगीत पर अपने अमिट छाप के साथ प्रतिष्ठित है। ''अरस्तु'' ने संगीत पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है ''संगीत की मधुर ध्वनियों के आरोह-अवरोह किसी प्रकार की प्रतिमाएँ मस्तिष्क में नहीं खींचते। बल्कि विशुद्ध अध्यात्मिक अनुभूति कराते है।''(8)

संगीत मनुष्य की चिन्ताओं, रोगों, परेशानियों एवं दुर्बलताओं का निराकरण करने का एक मनोवैज्ञानिक एवं परा वैज्ञानिक साधन है जो न केवल व्याकुलताओं को दूर करता है वरन् हमें अनुशासित भी करता है। हमारे प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद भी संगीत के इस अमोघ शक्ति का गुणगान करते हुए लिखते है :-

''यदि मानव जीवन में कोई ऐसी वस्तु है जो मानव को एक क्षण के लिए विनाशकारी चंगुल से छुड़ाकर अमरता प्रदान करती है, जो उसे इस चिन्ताकुल जगत के झगड़ों से उपर उठाकर ऐसे लोक में पहुँचा देती है जहाँ न कोई मलिनता है, न कोई द्वेष, न कोई स्पर्धा है और न कोई संघर्ष तो वह केवल और केवल मात्र संगीत ही है।''(9)

शास्त्रीय संगीत में अभ्यास की नितान्त आवश्यकता होती है, संगीत के इस अभ्यास को स्वर साधना भी कहते है या ''ऊँकार'' साधना भी कहते है। ऊँकार साधना के पीछे भी संगीत के इसी अलौकिक आनन्द और निमग्नता रूपी तथ्य छुपा हुआ है। अक्षर में ''ऊँ'' को ही साधना हेतु क्यों चुना गया, इसके विषय में यही कहा जा सकता है कि अक्षर ''ऊँ'' त्रिगुण शक्ति का द्योतक है, जो सृष्टि के संचरणकर्त्ता है।

संगीत धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष इन चारों पुरूषार्थो की प्राप्ति में सहायक है। डॉ. सम्पूर्णानन्द जी के अनुसार 'Music are and literature Lead a person from the Lower Level of Physical Existence to a higher spiritual plane and in this way helped in self purification.'(10)

<u>अध्यात्म</u> -

कबीर जी कहते है :-

*''आतम ज्ञान बिना सब सूना।*
*क्या मथुरा क्या काशी।।''*

अर्थात् - मनुष्य के पास अपार वैभव हो किन्तु अगर वह अपनी आत्मा से अनभिज्ञ है तो सब व्यर्थ है। आत्मा को जानना ही अध्यात्म का विषय है। अध्यात्म को परिभाषित करना अत्यन्त दुरूह है, संक्षेप में इसे अति सूक्ष्म, व्यापक एवं गूढ़ तत्व के रूप में कहा जा सकता है। ''अध्यात्म'' विषय अन्नत व्योम की भाँति है जिसमें उड़ान की परिधि नहीं खींची जा सकती।

''हिन्दी मानक कोश में अध्यात्म का अर्थ है - ''परमात्मा, आत्मा, आत्मा तथा परमात्मा के गुणों एवं उसके पारस्परिक विषयों के संबंध में किए जाने वाला दार्शनिक चिन्तन, निरूपन या विवेचन'' (11)

दर्शन में अध्यात्म को अन्वय कर अधिक आत्मन् के रूप में बताया गया है। यहाँ अधि उपसर्ग है और आत्मन् शब्द के साथ योग कर, आत्मा से संबंधित विषयों पर प्रकाश डाला गया है जो आत्मा से

परमात्मा के संबंध को विश्लेषित करता है। अध्यात्म के प्रति सभी भारतीय मनीषियों का विचार भी दर्शन संबंधी विषयों को ही निश्चित करता है, जिसकी व्याख्या धर्म द्वारा इस प्रकार की जाती है :-

'The Sublime – the most rational State for the spiritual experience is posited in religious experience. It is in other word, realizing the ideal moral experience in the form of God. God become the symbol of that which is highly rational the epitome of all values. The religious experience as to be understood as the realization of the God in theory and not simply as an expression of institution codified form of religion'.(12)

अध्यात्म का संबंध अलौकिक, भौतिकेत्तर आदि अनुभूतियों से है। अध्यात्म एक विचार है, जो बुद्धि की स्थिरता, परमसाध्य की उत्कंठा और साधना के समय अनुभूत होती है, फिर विलीन हो जाती है। जैसे पानी का बुलबुला। यह बुलबुला भी पानी का ही स्वरूप है पर इसमें निरन्तरता नहीं है। बहते जल में निरन्तरता है। साधना द्वारा उत्तम भाव में निरन्तरता का प्रयास किया जाता है। अध्यात्म, चेतना के साथ महाचेतना के योग की प्रक्रिया है। जिसका आरम्भ आत्म-संयम, अनुशासन और मर्यादित कर्म रूपी तपश्चर्या से होता है और जो उत्कृष्ट व्यवहार में स्पन्दित होता रहता है। वस्तुतः परिष्कृत आत्मा ही परमात्मा का पर्याय है। वेदान्त दर्शन में ''अयात्मा ब्रह्म शिवाष्शहम् तत्वमसि, प्रज्ञानब्रह्म, सोष्शहम् आदि सूत्र भी इसी और इंगित करते है। अध्यात्म आस्तिकता अथवा आस्था का विषय है ओर कर्मफल पर विश्वास ही इसका मूल हेतु है। पं. श्रीराम शर्मा आचार्य लिखते है - ''दूरदर्शी विवकेशीलता पर आधारित नीतिमत्ता, मानव गरिमा के साथ जुड़ी हुई उत्कृष्टता। इसी को तत्वदर्शन की भाषा में अध्यात्म कहा गया है।'' (13)

अध्यात्म का प्रादुर्भाव गहन चिंतन, साधना व अडिग विश्वास द्वारा होता है जो चैतन्य की अनुभूति से परिष्कृत होता है। अध्यात्म एक अनुभूति है। जो सुव्यवस्थितता से परिपूर्ण एक ऐसा अद्‌भुत क्षण हो सकता है जो एक सपुंजित वस्तु का आनन्दमय ज्ञान दे जाए, जिससे जीवन सृजनात्मक क्रिया और सौन्दयानुभूति का अनन्त प्रवाह हो जाए और स्वतः स्फूर्त होते हुए भी व्यवस्थित और स्वच्छन्द होते हुए भी अनुशासित हो जाए। ''अनुभूति'' अति व्यक्तिगत होती है, जो कि तर्क का या विवाद का विषय नहीं वरन् स्वयं के आन्तरिक अवलोकन का विषय है। जगत गुरू स्वामी शंकराचार्य ने कहा -

*''सत्यपि भेदापगमे नाथ। तवाहं नृमामकीनस्त्वम्*
*सामुद्रो ही तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तरङ्गः''*(14)

अर्थात हे प्रभु ! मैं जानता हूँ कि तुझमें और मुझमें कोई भेद नहीं परन्तु मैं तेरा हूँ, तू मेरा नहीं। समुद्र की लहर हो सकती है परन्तु लहर का समुद्र नहीं। अर्थात् आत्मा चैतन्य का आधार है जो बुद्धि और मन से परे है। इस मार्ग में बाह्यआडम्बरों और दिखावें का प्रयत्न वैसा ही जैसा कि तिनके को समुद्र में डाल कर बूँद - बूँद कर के समुद्र को खाली करने की सोचा जाए।

अतः अध्यात्म आत्मा के स्तर पर महाचेतना के विकास करने का विज्ञान है, जो बहिरात्मक बुद्धि से उपर उठ कर बृहद् चैतन्य के साथ चेतन कर्मी बन सके, जो कि तूर्यावस्था का क्षण है।

संगीत और अध्यात्म - जीवन में गति और उस गति की समुचित दिशा का होना नितान्त आवश्यक है। संगीत नियमित गति और संतुलन का परिचायक है तथा उसे संतुलित कर समुचित दिशा प्रदान करने का कार्य जिस अलौकिक दिव्य शक्ति द्वारा निर्देशित होता है, उसे ही तत्वदर्शन की भाषा में ''अध्यात्म'' कहते है।

संगीत और अध्यात्म ऐसा ही युग्म है, जिसकी पृथक् कल्पना नहीं की जा सकती। यह एक दूसरे के पूरक है। एक के अभाव में दूसरे की गति प्रगति संदिग्ध हैं। दिशा के बिना गति संभव नहीं तथा गति के बिना दिशा की सार्थकता पर भी प्रश्न चिह्न लग जाएगा। दोनों के समन्वय पर हीं जीवन की समग्रता निर्भर करती है।

भारत के पूर्व एवं प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का कहना है कि संगीत और अध्यात्म का धनिष्ठ संबंध है। उनके शब्दों में- '' भारत में संगीत क्षणिक आमोद-प्रमोद व अतृप्त तृष्णा की वस्तु न

होकर समस्त ब्रह्माण्ड अथवा व्यक्त जगत् से ऐक्य का आभास है, चिरानन्द प्रदान करने वाली आध्यात्मिक साधना है और सांसारिक दुखों से मुक्ति प्रदान करने और ब्रह्म तक मानव को ले जाने वाला मार्ग है।''(15)

संगीत और अध्यात्म के अन्तर्निहित संबंध का परम उन्मेष है ''भाव'' वस्तुतः भाव एक दृष्टिकोण है, व्यक्ति विशेष की विशिष्ट अनुभूति है। इसलिए ही तुलसी जी ने लिखा है - ''जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।''

अतः अनुभूति की तीव्रता पात्र की पात्रता पर निर्भर करता है। संगीत साधिका किशोरी अमोणकर जी का अध्यात्म से अन्तर्निहित लगाव रहा है। उनका विश्वास है कि स्वरों में ही वह अपने गुरू राघवेन्द्र स्वामी जी का दर्शन कर सकती हैं। वह यह मानती थी कि जब ईश्वर का अस्तित्व सर्वत्र है तो स्वरों में भी अवश्य होना चाहिए। शंभुनाथ मिश्र लिखते है-''किशोरी अमोणकर का संगीत जहाँ एक ओर आध्यात्मिक बुलंदियों पर पहुँचकर मन के कलुष को साफ कर देता है। दूसरी ओर वह श्रोताओं की आध्यात्मिक क्षुधा को भी शांत करता है।'' (16)

सारतः आवश्यकता है संगीत में निहित आध्यात्मिक तत्वों को स्वरों के मंथन द्वारा निचोड़ने की। संगीत में तो अध्यात्म निहित है ही, उसे देखने के लिए और उसकी अनुभूति से आनन्द प्राप्ति के लिए हमें संगीत में आत्मिक मंथन और उसके सारतत्व का प्राणिक आलोड़न की ओर अग्रसर होना होगा। इस ओर प्रयासरत रहने पर ही ''संगीत और अध्यात्म'' के युगल अपूर्व तत्व का हम आनन्द ले सकेंगें।

## संदर्भ सूची


(1) अग्रवाल, वन्दना, भारतीय संगीत और इतिहास और समाज के विकास में उसका योगदान, शलभ पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, 2010, पृ. सं. 05

(2) वही, पृ. सं. - 05

(3) शर्मा, स्वतंत्र, भारतीय संगीत—वैज्ञानिक विश्लेषण, अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 2013, पृ.सं. - 01

(4) वही, पृ0 संख्या - 19

(5) वही, पृ0 संख्या - 18

(6) दत्ता, पूनम, भारतीय संगीत शिक्षा और उद्देश्य, राज पब्लिकेशंन नई दिल्ली, 2005, पृ0 सं. - 219

(7) अखण्ड ज्योति, जनवरी-2002, मथुरा, पृ0 सं. - 20

(8) अग्रवाल, वन्दना, भारतीय संगीत और इतिहास और समाज के विकास में उसका योगदान, शलभ पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, 2010, पृ. सं. 133

(9) वही, पृ. संख्या - 135

(10) वही, पृ. संख्या - 135 - 136

(11) शर्मा, सुनीता, भारतीय संगीत का इतिहास आध्यात्मिक एवं दार्शनिक, संजय प्रकाशन, दिल्ली पृ. संख्या-19

(12) वही, पृ. संख्या - 20

(13) शर्मा आचार्य, पं. श्रीराम, विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, 1995, पृ. सं. - 5.2

(14) सिंह, क पाल, अध्यात्म विद्या क्या है ?, क पाल रूहानी सत्यसंग, सावन आश्रम, देहली, 1971, पृ. सं. - 80

(15) शर्मा आचार्य, पं. श्रीराम, शब्द ब्रह्म-नाद-ब्रह्म, अखण्ड ज्योति संस्थान मथुरा, 1995, पृ. सं. - 5.30

(16) मिश्र, शंभुनाथ, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की घराना परंपरा, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 2002, पृ. संख्या - 113

# वर्तमान समय में घरानों का महत्व

**डॉ. निशा श्रीवास्तव**

घराना गायन-वादन की एक विशिष्ट शैली है। संगीत का साधन मानवी आवाज है, जो रूप की भाँति भिन्न-भिन्न है। यही आवाज जब योग्य गुरू द्वारा संस्कारित की जाती है एवं योग्य शिष्य गहन रियाज गूँज लालित्य रियाज स्निग्धता लाकर आवाज को संस्कारित करता है और यही आवाज जब भिन्न-भिन्न अलंकारों द्वारा स्वर बन जाती है। तब वहीं से घरानों का अविर्भाव होता है। घर शब्द का अर्थ वंश और घराना शब्द का अर्थ वंश वैशिष्ट्य कहना भूल न होगी, किसी संगीतज्ञ द्वारा अपनी प्रतिमा के बल पर किसी नवीन पद्धति का प्रयोग और उसी पद्धति को उनके शिष्यों के द्वारा प्रचार से एक घराना बनता है। घराना शब्द का व्यवहारगत अर्थ है रीति पद्धति या style धुपद्रीय राग संगीत के उत्पति से निकलकर आज तक का संगीत विभिन्नता के कारण संगीत का व्यापकता काफी प्रमाण में बढ़ा है। कलाओं में परिपक्वता आती है तो वही परिपक्वता विशिष्ट शैलियों को जन्म देती है, भारतीय संगीत में ऐसी शैलियों ने घराने का रूप प्राप्त किया है।

संगीत के क्षेत्र में संगीत ज्ञाता जिसे हम गुरू कहते है उसने अपनी प्रतिभा के बल पर एक गायन शैली को जन्म दिया और उस क्षेत्र में परिपक्वता प्राप्त की। फिर गुरू शिष्य परम्परा के आधार पर शैली का विकास हुआ और उस शैली की सुव्यवस्थित परम्परा और पृथक सत्ता कई पीढ़ियों तक पनपी और तब उसे घरानों की संज्ञा से अविभूत किया गया जो गायन या वादन शैली है वही वस्तुतः घरानों का प्राणतत्व होती है जब उसमें मौलिकता हो, अनोखे रूप सौदर्य का निर्माण हो साथ ही गायकों की कम से कम तीन या चार पीढ़ियों के बाद घरानों का जन्म हो सकता है।

यदि घरानों के उद्‌भव के पूर्व की स्थिति पर विचार करें तो हम देखते है कि मुसलमानों के कारण और शमन के पश्चात् शुद्ध रूप में हिन्दू कहलाने वाली सभी भारतीय कलाओं पर यवन संस्कृति का प्रभाव पड़ता आरम्भ हो गया। अकबर युग में जिस तरह ध्रुपद की चार वाणियाँ प्रसिद्ध थी उसी तरह इन्हीं व्यवसायी कलाकारों के कारण युगल बादशाह, मोहम्मद शाह के पश्चात् तबला पखावज तथा ख्याल गायकी के घरानों की नींव पड़ने लगी जो मुगल युग के बाद अधिक समृद्ध एवं विस्तृत हुई। घरानों के संरक्षण और विकास के पीछे वास्तव में उन राजा नवाबों का योगदान अमूल्य है। मैहर स्टेट के दरबारी कलाकार रहकर उस्ताद अलाउद्दीन खाँ ने सर्वश्री अली अकबर खाँ रविशंकर, निखिल, बनर्जी, पन्नालाल घोष जैसे समर्थ कलाकारो को शिक्षा दी जिसके फलस्वरूप आज पूरे विश्व में भारतीय संगीत का मस्तिष्क ऊँचा हुआ है। घरानों ने ही हमारी सांगीतिक संस्कृति की रक्षा की है और कला की रक्षा का उत्तरदायित्व निभाया है। वर्तमान समय में संगीत विद्यालय शिक्षण संस्थओं में संगीत एक विषय के रूप में आ जाने से घरानों का उतना जोर नहीं रह गया है। संगीत विद्यालयों की स्थापना, सभाओं का आयोजन प्राचीन रचनाओं का संकलन, वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग स्वरलिपि पद्धति का निर्माण, पाठ्यक्रम निर्धारण आदि में संगीत के विकास की ओर ध्यान दिया जा रहा है, घरानेदार गायकी वर्तमान समय में टूटने लगी है, आज का प्रबुद्ध कलाकार

प्रवक्ता चन्द्रकान्ति, रमावती देवी आर्य महिला पी. जी. कॉलेज, गोरखपुर (दीवान बाजार)

घरानेदार होते हुए भी इतनी समझ रखने लगा है कि एक घराने में तालीम लेना अच्छी बात है या नहीं।

घरानों का विलयीकरण आज से नहीं कई वर्षो से शुरू हुआ है। जमींदारी खत्म होने पर कलाकारों को बहुत मुश्किल का सामना... करना पड़ा, भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रोताओं को संतुष्ट करने के लिये कई कलाकार अपनी शैली में ही निबद्ध नहीं रहें, इन्होंने घरानों की विशेषताओं को भी अपना लिया, इसके अतिरिक्त आज भी शिक्षा पद्धति में विद्यालयों में विभिन्न शैलियों के शिक्षक होते है, अतः कोई एक शैली जड़ नहीं पकड़ पाती है।

आज वर्तमान युग में सरगम जिसका प्रचार चालीस साल पहले नहीं था। आज भी नई शैली में काफी दिखता है।

प्रस्तुत वर्तमान समय में धरानेदार परम्परा के अभाव में आज कई कमियाँ दृष्टिगोचर होती है। बहुत सी सूक्ष्म बातें जैसे स्वरों का लगाव, गायिकी आदि गुरू शिष्य परम्परा की शिक्षा से ही उपलब्ध हो सकती है। किसी और उपाय से नहीं स्वर लिपि से गाना सीखना आ जाता है परन्तु श्रुति ज्ञान नहीं हो सकता। कौन नहीं जानता कि जौनपुरी, दरबारी, आसावरी, तोड़ी, मुल्तानी, अलग-अलग गन्धार लगते है। पूर्वी की और भैरव में अलग-अलग ऋषभ लगते है। ये सूक्ष्म बाते गुरू शिष्य परम्परा की शिक्षा से ही उपलब्ध हो सकती है।

वर्तमान समय में घरानों की तोड़-फोड़ रेडियों, रिकार्डिंग, टेप, फिल्म फैस्टिबल इन सब बातों का प्रभाव शास्त्रीय संगीत के भविष्य के लिये अच्छा नहीं है। आज आवश्यक इस बात की है कि घरानेदार शिक्षा प्रणाली व विद्यालयहीन शिक्षा प्रणाली का किसी प्रकार का समन्वय हो और घरानेदार गायकी के गुणों को आज का विद्यार्थी ग्रहण करे। आधुनिक वर्तमान संगीत जो परम्परागत और घरानेदार संगीत की उपेक्षा करता है, हमारे संगीत की पैतृक सम्पत्ति सुरक्षित नहीं रख सकता।

वर्तमान युग में हिन्दुस्तानी संगीत की निश्चय ही उत्पत्ति हुई है, उसकी शिक्षा प्राप्त करने वालो की संख्या बहुत बढ़ गई है और हजारों की संख्या में राग रागनियों को सीखने लगे है जो विद्या पहले पेशेवर उस्ताद गुरूओं के पास थी उसकी जानकारी अब आम जनता को होने लगी है।

आज किसी विद्यार्थी को संगीत सीखने के लिए गुरू के घर रहकर उनकी सेवा करना आवश्यक नहीं, आज अलग-अलग घरानों की विद्या एक ही मंच पर सुनने को मिल जाती है।

परन्तु वर्तमान समय में घरानों के अभाव में संगीत का स्तर धीरे-धीरे गिर रहा है। आज का विद्यार्थी जीविकोपार्जन की भाग दौड़ के कारण 10 घण्टे अभ्यास करने में असमर्थ है, संगीत विद्यालयों में एक दस-बीस विद्यार्थियों को गुरू न तो सच्ची तालीम दे सकता है और न ही शिष्य ग्रहण कर सकता है, ऐसे में पुस्तक पढकर कलाकार बनना कठिन है। पुराने जमाने में शिष्य गुरू के घर रहकर वर्षो पर्यन्त तालीम लिया करते थे, उन दिनों कलाकारों को राज्य दरबारों में आश्रय मिला करता था अतः अधिक जिम्मेदारियो से मुक्त रहकर वे विद्यादान और अभ्यास में पूरा ध्यान लगा सकते।

वर्तमान समय में घरानेदार गायकी के अभाव में क्या हम आधुनिक शिक्षा पद्धति से उच्चकोटि के कलाकार पैदा कर सकते है- शायद कभी नहीं।

वर्तमान समय में घरानों की तोड़फोड़ रेडियों आदि का प्रभाव शास्त्रीय संगीत के विकास में सहायक रही है।

वर्तमान समय में घरानों की तोड़फोड़ रेडियों आदि का प्रभाव शास्त्रीय संगीत के विकास में सहायक वही है।

जिस युग में वैज्ञानिक उपकरण रेडियों टेलीविजन रिकार्डर टेपरिकार्डर या पुस्तक जैसी कोई सुविधा नहीं थी उस युग में श्रेष्ठ में श्रेष्ठ कलाकार घरानों के कारण उत्पन्न हुए जो संगीत के विद्वान हुए और उसी कंठमुक्त संगीत के माध्यम में उन्होंने अनेक उच्च कोटि के शिष्य आये। जब शिष्य गुरू के व्यक्तिगत सानिध्य में रहेगा तथा गुरू और शिष्य के बीच स्नेह एवं श्रृद्धा का नाता भी बना रह सकेगा जो संगीत शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग है।

# सांगीतिक ध्वनि नाद

**हेमलता कुमारी**

'ध्वनि' अथवा 'sound' शब्द लैटिन के 'sonare' शब्द से बना है जिसका अर्थ किसी प्रकार की ध्वनि या रव करना है। संस्कृत में ध्वनि शब्द 'ध्वन' (सुनना) से बना है। कथित है कि कण्ठ से निकली ध्वनि शब्द कहलाती है। ध्वनि में अक्षरों के योग से शब्द बनते हैं जिससे सुनने वालों को उस शब्द का एक निश्चित अर्थ समझ में आता है।'

वैदिक युग में शब्द, ध्वनि और व्याकरण की स्पष्ट और तथ्यात्मक स्थिति महर्षि पाणिनी से आरम्भ होती हुई मानी जाती है। इस सन्दर्भ में महर्षि पाणिनी के सूत्रों का पतंजलि द्वारा किया गया भाष्य 'पातान्जल्माहाभाष्य' ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है। इसके प्रथम अध्याय में पाणिनी का प्रथम सूत्र है-

''अथ शब्दानुसारनम्''। यहाँ त्रिधा ध्वनि के अक्षर या वर्ण रुपी आयाम के लिए ही शब्द के अनुशासन का प्रयोग है। ध्वनि का शब्दार्थ है- श्रवण इन्द्रिय में उत्पन्न होने वाला संवेग जब परिपार्श्विक वायु कम्पन की ऐसी स्थिति में हो कि वह श्रवण इन्द्रिय को प्रभावित कर सके, या जब कोई ध्वनि तरंग वायुमंडल में इस प्रकार दबाव बनाती है कि इसे गति मिल सके और यह श्रवण इन्द्रिय को उद्दीप्त कर सके तो वह ध्वनि कहलाती है। तत्त्वार्थ पतंजलि स्पष्ट करते हैं कि 'तस्माद ध्वनिः शब्दः'। कोई भी सामान्य ध्वनि शोर है। अव्याकृत ध्वनि है। यह प्राथमिक अर्थ है।

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में ध्वनि को आकाश का गुण माना जाता है जो पंचतत्व में से एक है व हमारी पंच ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित है। ध्वनि सिर्फ आकाश का गुण ही नहीं वरन् पाँचों तत्त्वों में विद्यमान है व इन्हें आपस में जोड़ती है। सब कुछ ध्वनि से उत्पन्न होकर ध्वनि में ही विलीन हो जाता है।

प्राचीनों के अनुसार श्रूयमान वर्णों को ध्वनि कहते हैं। ध्वनि के द्वारा ही शब्दों को सार्थकता मिलती है, शब्द और अर्थ ध्वनि के ही स्थूल रूप हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिससे अर्थ स्फुटित होता है वह शब्द स्फोट कहलाता हैं। ध्वनि रूपी शब्द का अर्थ स्फोट द्वारा होता है। स्फोट को व्याकरण शास्त्रियों ने नाद का अंग माना है।

सृष्टि छन्द का प्रथम अक्षर है ओम्। यह परम् नाद और शब्द ब्रह्म है। बिन्दु इसकी शाश्वत शक्ति है। ग्रन्थों में वर्णित है कि आगम (सुसंयोजित और पारम्परिक रूप से सुसम्प्रेषित ज्ञान) और परमेश्वर ने सबसे पहले शून्य अथवा व्योम की रचना की। इस शून्य में जब परमेश्वर ने स्वयं को व्यक्त करना चाहा तो उनकी घनीभूत शक्ति बिन्दु के रूप में व्यक्त हुई और बिन्दु से नाद की उत्पत्ति हुई।

भारतीय संगीत में नाद को ध्वनि का स्वरूप बताया गया है। संगीत में नाद का सूक्ष्म रूप दिखता है। नाद ही संगीत का आधार है।

*नादेन व्यंजते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः।*
*वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्।।2।।*
*(संगीत रत्नाकर, पृ. 20)*

अर्थात नाद से वर्ण की, वर्ण से पद की तथा पद से वाणी अथवा वाक्य व्यक्त होता है। वाणी के द्वारा ही सम्पूर्ण व्यवहार चलता है अतः जगत में

शोध छात्र, वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि., दरभंगा

व्याप्त सब कुछ नादाधीन है। इस सन्दर्भ में शारंगदेव ने पुनः कहा है-

*नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।*
*जातः प्राणाग्निसंयोगत्तेन नादोऽभिधीयते।।6।।*
*(संगीत रत्नाकर, पृ. 58)*

अर्थात् नाद के दो प्रकार जाने जाते हैं 'आहत' तथा 'अनाहत'। वह शरीर में प्रकाशित होता है इसलिए पिण्ड अर्थात् शरीर का वर्णन किया जाता है।

उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट होता है कि आहत और अनाहत दोनों नाद मूलतः शरीर में ही प्रकट होते हैं।

1. अनाहत नाद वह है जो योगिगम्य माना जाता है वह भी योगियों द्वारा अपने शरीर के भीतर ही सुना जाता है। यह बिना किसी आघात के उत्पन्न होता है जिसका प्रयोग मोक्ष प्राप्ति अथवा ब्रह्म प्राप्ति के लिए योगियों द्वारा किया जाता है। सामान्य मनुष्य इस नाद का अनुभव नहीं कर सकते क्योंकि यह ब्रह्म स्वरूप है। यही कारण है कि संगीत में इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है।

2. आहात नाद सामान्य मनुष्यों के वाचिक व्यवहार का आधार है। आहत नाद वह ध्वनि है जो किसी प्रकार के आघात से, घर्षण से या किन्हीं दो वस्तुओं के टकराने से उत्पन्न हो। अपने इसी गुण के कारण यह सामान्य मनुष्यों के द्वारा अनुभव किया जा सकता है, अतः यह संगीतोपयोगी नाद है।

संगीत के प्रकाण्ड पण्डितों ने आहत नाद के प्रकारों का भी वर्णन किया है। शारंगदेव ने संगीत रत्नाकर में आहत नाद के पाँच प्रकारों के नाम दिए हैं जो इस प्रकार हैं-

*नादोऽतिसूक्ष्मः सूक्ष्मश्च पुष्टोऽपुष्टश्च कृत्रिमः।*
*इति पंचभिधा धत्ते पंचस्थानस्थितःक्रमात्।।5।।*
(संगीत रत्नाकर, पृ. 58)

अर्थात् क्रम से पाँच स्थानों में स्थित नाद अतिसूक्ष्म और सूक्ष्म, पुष्ट और अपुष्ट तथा कृत्रिम इस प्रकार पाँच संज्ञाएँ धारण करता है।

शारंगदेव ने संगीत रत्नाकर में व्यवहार जनित नाद के तीन प्रकारों मन्द्र (हृदय), मध्य (कण्ठ) एवं तार (मूर्धा), का भी वर्णन किया है।

नाद के महत्त्व की व्याख्या करते हुए संगीत रत्नाकर में कहा गया है कि-

*गीत। नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते।*
*तद्द्वयानुगतं नृतं नादाधीनमतस्त्रयम् ।।1।।*
(संगीत रत्नाकर, पृ. 20)

अर्थात् गीत नादात्मक है। वाद्य नाद की अभिव्यक्ति करने के कारण प्रशंसित होता है नृत्य उन दोनों का अनुगत या अनुकरण करता है, इसलिए ये तीनों कलाएं नाद के अधीन हैं।

पं. ओंकार नाथ ठाकुर ने नाद की व्यापकता का उल्लेख शारंगदेव द्वारा लिखित इन पंक्तियों से किया है-

*''चैतन्य सर्वभूतानां विवृतं जगदात्मना।*
*नादब्रह्म तदानन्दमद्वितियमुपास्महे।। 1।।*
(संगीत रत्नाकर, पृ. 56)

*नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।*
*भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः।।2।।*
(संगीत रत्नाकर पृ. 57)

अर्थात् जो समस्त संसार का चैतन्य है, जो अद्वितीय है, आनन्दमय है, जिसकी पंच प्राणों (सांख्य, योग, वैशेषिक, उदान्त्मीमांसा तथा वेदान्त) में षट्दर्शन के सप्तलोक में समस्त देवताओं ने उपासना की है, उसकी उपासना हम आज भी करते हैं।

नाद को संगीतशास्त्र का प्राण तत्व कहा गया है। नाद को ब्रह्म कहा गया है इसका कारण यह हो सकता है कि जिसे नाद की अनुभूति होती है, जो नाद की अपार सत्ता को अनुभव कर सकता है वह उस ईश्वर जो स्वयं परमनाद है का साक्षात्कार कर सकता है। प्राचीन काल से ही योगी, ऋषि आदि विभिन्न इसी नाद की उपासना में तल्लीन रहकर अपने इष्ट का आह्वाहन कर उनकी सृष्टि से परिचित होकर आनन्दमग्न हो जाते हैं। नाद अंतहीन है।

# काकु एवं उसके प्रकार

**खुशबू कुमारी**

## काकु की परिभाषा

कण्ठ तंत्रियों पर विभिन्न प्रकार से आन्दोलन के कारण जो भिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न की जाती हैं उसे काकु कहते हैं। काकु के द्वारा मानव-हृदय में निहित उत्साह भाव, क्षोभ भाव, क्रोध भावादि व्यक्त होकर रस के रूप में परिणत हो जाते हैं।

संगीत में स्थान-भेद, उच्चार-भेद और गति-भेद से जो परिवर्तन होते हैं उन्हें काकु कहते हैं। एक ही स्थान में एक ही स्वर भिन्न-भिन्न अर्थों की सृष्टि हो उसे काकु कहना चाहिए। कभी मन्द, कभी बुलन्द, कभी आघात, कभी कम्प, कभी दोलायमान आदि स्वरभेद भावाभिव्यन्जना के लिए कण्ठ में प्रयुक्त हों, वह काकु है।

''कण्ठ ध्वनि में स्वतः होने वाले जिन परिवर्तनों के द्वारा पाठय में अर्थ और भाव प्रकट होते हैं तथा रसाभिव्यक्ति होती है, उन्हें पाठय के गुण अलंकार या व्यापक अर्थ में काकु कहा गया है, जो कण्ठ ध्वनि के धर्म हैं। ध्वनि में होने वाले वे सभी परिवर्तन सामान्य रूप से काकु के अन्तर्गत आते हैं, जिनके द्वारा अर्थ या भाव की अभिव्यक्ति होती है।''[1]

'अमरकोश' के अनुसार काकु ध्वनि के उस विकार को कहते है, जिसके द्वारा किसी भाव की अभिव्यक्ति हो।[2]

वक्ता के मनोगत भावों के अनुरूप वाक्यों के स्वरों का चलन मन्द्र, तारादि स्थानों में होता है, स्वरों के उच्चाहरण भी मृदु, कोमल, कठोर व कम्पित आदि होते हैं। इस प्रकार के भावाभिव्यन्जक वाक्योच्चार ध्वनि को काकु संज्ञा दी गई है।

काकु की व्याख्या अधिकतर रसानुभूति के अन्तर्गत दी गयी है जो पूर्णतया उसके प्रभाव से सम्बन्धित है। इसे रस की अभिव्यक्ति में एक महत्वपूर्ण अवयव माना गया है। जबकि यदि हम देखें तो पायेंगे कि काकु मूलतः ध्वनि में होने वाले विकार के सूचक हैं और ध्वनि में स्वरों द्वारा व्यक्त होते हैं तथा जिस कारण उनका प्रयोग होता है, उसे वह बहुत ही अच्छी तरह से व्यक्त करते है। किसी भी ललित कला का अन्तिम लक्ष्य रस-प्राप्ति अर्थात् आनन्दानुभूति है। काकु भावोत्पत्ति में सहायक होते हैं इसलिए उसकी व्याख्या रस-सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में की जाती है।

भरत मुनि द्वारा वर्णित काकु 'अर्थ' के अभिप्राय को व्यक्त करता है, जबकि संगीत रत्नाकर में प्रयुक्त काकु संगीत में विभिन्न भावों की उत्पत्ति को छाया के रूप में प्रदर्शित करता है। जहाँ नाट्यशास्त्र में भावों के अनुसार कण्ठ ध्वनि में परिवर्तन को काकु कहा गया है जो नाट्य से सम्बन्धित है वहाँ संगीत रत्नाकर में रागों के भावात्मक प्रभाव को काकु कहा है, इसलिए काकु का वर्णन छाया के अन्तर्गत दिया गया है। इन दोनों ग्रन्थों के अनुसार काकु रसाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। यही कारण है कि संगीत में काकु का महत्त्व अत्यन्त महत्त्व रखता है।

## काकु के अंग

यह बात पूर्णतया सत्यापित की जा चुकी है कि 'काकु' जो अत्यन्त प्राचीन शब्द है, उसका सर्वप्रथम प्रयोग भरत के 'नाट्यशास्त्र' में मिलता

शोध छात्रा, वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. वि. वि., दरभंगा

है। यह ग्रन्थ 'नाट्य' को आधार बनाकर लिखा गया था ऐसा विद्वानों का कथन है। जिससे यह ज्ञात होता है कि 'नाट्यशास्त्र' में भरत मुनि के द्वारा 'काकु' शब्द की व्याख्या 'नाट्य' के सन्दर्भ में की गयी है।

मात्र नाट्य ही नहीं अपितु साहित्य और संगीत के क्षेत्र में भी 'काकु' का प्रयोग होता है। संगीत में काकु के प्रयोग का वर्णन जिस ग्रन्थ में सुव्यवस्थित ढंग से प्राप्त होता है वह है 'संगीत रत्नाकार'। जिसके रचयिता शारंगदेव है। संगीत रत्नाकर में 'प्रकीर्णअध्याय' के अन्तर्गत 'काकु' वर्णन प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में काकु की व्याख्या के अन्तर्गत ग्रंथकार ने रोगों पर प्रभाव डालने वाले छः काकु प्रकारों अथवा अंगों का वर्णन प्रस्तुत किया है। यह काकु अंग राग के रागाभिव्यक्ति होती है या ऐसे कह सकते है कि रागों को अभिव्यक्त करने में काकु के इन छः अंगों का बहुत अधिक महत्त्व है।

शारंगदेव ने काकु के छः अंग कहे हैं जो इस प्रकार हैं- 'स्वर' काकु', 'राग काकु' क्षेत्र काकु' और 'यंत्र काकु'। इन अंगों की जो व्याख्या ग्रंथ में की गयी है उसका वर्णन इस प्रकार है-

स्वर काकु-

*श्रुतिन्यूनाधिकत्वेन या स्वरन्तरसंश्रया।*
*स्वरान्तरस्य रागे स्यात् स्वरकाकुरसौ मता॥121॥*

अर्थात् राग में किसी स्वर की श्रुति संख्या के कम या अधिक होने से अन्य स्वर की जो छाया होती है, वह 'स्वर काकु' मानी गयी है।

संगीत में ध्वनि का प्रयोग स्वर के रूप में किया जाता है। संगीत का स्वरूप स्वरों के द्वारा निर्मित होता है। इसलिए यह कहना गलत नहीं होगा कि संगीत में स्वरों की उपादेयता अत्यन्त महत्त्व रखती है। स्वरों का निर्माण श्रुतियों से होता है। इस प्रकार श्रुतियों को कम या अधिक कर देने से उनमें जो अन्तर दृश्य होता है; उसे ही स्वर काकु कहते है। स्वर काकु में किसी राग के स्वरों में प्रयुक्त श्रुतियों का विशेष उच्चारण होता है जो किसी विशेष भाव को व्यक्त करता है और राग रूप के प्रकटीकरण में सहायक होता है। किसी राग में कोमल स्वर-प्रयोग, तीव्र स्वर-प्रयोग, आदि का स्पष्टीकरण स्वर काकु द्वारा ही सम्भव है।

स्वर काकु को राग का एक आधारभूत तत्व कहा जा सकता है। किसी भी राग में प्रयुक्त शुद्ध स्वर, विकृत स्वर, एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाना, स्वरों का आरोहात्मक अथवा अवरोहात्मक प्रयोग करना आदि स्वरों के विभिन्न रंग-रूप और भावादि को दर्शाते हैं, जो रागाभिव्यक्ति और रसोत्पत्ति में सहायक सिद्ध होते हैं। स्वर का स्वयं का व्यक्तित्व, एक स्वर का दूसरे स्वर से सम्बन्ध, रागों में उपस्थित भाव आदि सभी स्वर काकु के द्वारा ही प्रत्येक स्वर स्व-अस्तित्व को प्रकट करने में सक्षम हो पता है तथा राग में अपनी महत्ता दर्शा पाता है। रागों के प्रस्तुतिकरण में स्वर, जब भावानुसार व आवश्यकतानुसार स्वर को त्यागते तथा ग्रहण करते हैं वह स्वर काकु की सहयता से ही सम्भव है। स्वर काकु राग में प्रयुक्त सवरों में इच्छित भाव लाने में सहायता करते हैं।

कल्लिनाथ ने संगीत रत्नाकर की टीका में स्वर काकु की व्याख्या में प्रयोज्य स्वर पर अन्य स्वर की छाया पड़ने के उदाहरण स्वरूप यह कहा है कि चतुःश्रुति षड्ज की दो श्रुति निषाद द्वारा ले लिए जाने पर दो श्रुति कम हो जाने से षड्ज निषादवत् प्रतीत होता है तो दूसरी और निषाद षड्ज की दो श्रुतियाँ लेकर चतुःश्रुति (काकली निषाद) बन कर षड्जवत् प्रतीत होता है। यह प्रतीति जिस ध्वनि विकार से होती है उसे काकु समझना चाहिए। यहाँ निषाद के चढ़ने पर उसका स्थान बदल जाने से वास्तव में विकार आता है लेकिन षड्ज अपने स्थान पर ही रहता है, मात्र निषाद से उसकी दूरी कम हो जाती है। इसलिए उसमें वास्तव में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। वर्तमान सन्दर्भ में केवल अंतराल बदल जाने से उस स्वर में कोई विशेष या स्पष्ट अन्तर सुनाई नहीं देता लेकिन उससे राग के भाव या प्रभाव में अवश्य अन्तर आ जाता है।''[1]

सामान्य रूप में स्वर काकु यथार्थ रूप से स्वर लक्षणों को व्यक्त करता है अर्थात् मुख्य रूप से स्वर काकु द्वारा ही राग विस्तार में विशिष्ट स्वर का विशेष प्रकार से उच्चारण होता है, जिसके द्वारा राग का रूप प्रकट करने में सहायता प्राप्त होती है।

### राग काकु-

*या रागस्य निजच्छाया रागकाकुं तु तां विदुः ।। 122 ।।*
(संगीत रत्नाकर, पृ. 149)

अर्थात् राग की अपनी छाया होती है तो उसे 'राग-काकु' के नाम से जानते हैं।

'' 'अपनी छाया' का अर्थ है राग का अपना विशिष्ट रूप अर्थात् स्थाय-विशेष। वर्तमान सन्दर्भ में रागवाची स्वर समुदाय जिसमें उस राग का अपना रूप दिखाई देता है, ये स्वर समुदाय उसे दूसरे रागों से अलग भी करता है''[1]

संगीत का प्रयोगात्मक रूप राग द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इसलिए कहा गया है कि राग की विशेष स्वरावली, जो राग की मुख्य छाया होती है, वह राग काकु कहलाती है। किसी राग की मुख्य स्वरावली से उस राग का रूप स्पष्ट एवं स्थिर होता है। रागों में स्वरों के साथ राग-नियम के अनुकूल विशिष्ट स्वर समूह होते हैं जो राग का पूर्ण परिचय देते हैं। यही 'राग-काकु' कहलाते हैं। ऐसा मान सकते हैं कि वर्तमान में जो राग की पकड़ अथवा स्वर चलन है वह इसके अन्तर्गत आ सकते हैं।

राग की विशिष्ट ध्वनि राग में प्रयुक्त स्वरों का वर्णन करती है और स्वर काकु राग काकु को अलग-अलग पहचानने में मदद करते हैं। स्वर काकु का कार्य रागों की विशेषताओं को उजागर करना है।

राग काकु में रागांग भी राग की छाया प्रस्तुत करते हैं। स्वरों में विराम गति, गमक, मींड़ आदि के प्रयोग से रागों में भिन्नता आ जाती है। विशिष्ट स्वर संगतियों के अतिरिक्त स्वरोच्चारण में अन्तर भी राग काकु के अन्तर्गत ही आता है। राग काकु समान स्वर लगने वाले दो रागों के बीच का अन्तर बताने में भी सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए राग भूपाली और देशकार के स्वरों में भिन्नता है। भूपाली राग का चलन मन्द्र और मध्य सप्तक में है जबकि देशकार राग तार सप्तक में अधिक खिलता है। इनका चलन अपनी-अपनी विशेषताओं को लिए हुए होता है और यही इनका राग-काकु है। एक जैसे स्वर-संचार कई रागों में होते हैं, पर उन स्वरों को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग करने अर्थात् स्वरस्थान आदि परिवर्तित करने से रागों में भिन्नता आ जाती है। जिससे एक से स्वर वाले रागों में भी यह अलग-अलग पहचाने जा सकते है। राग काकु का स्पष्ट विवरण लिखित रूप में देना अत्यन्त कठिन है प्रयोगात्मकता से इस काकु-प्रकार को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

### अन्य-राग काकु-

*सा त्वन्यरागकाकुर्या रागे रागान्तराश्रया ।।*
(संगीत रत्नाकार, पृ. 150)

अर्थात् राग में जो अन्य-राग के आश्रय वाली छाया होती है, वह अन्य-राग-काकु है।

एक-राग में किसी दूसरे राग के विशेष स्वर-संचार का प्रयोग होने से दूसरे राग का जो आभास उस अंश में होता है वह 'अन्य-राग-काकु' है।

राग की मुख्य ध्वनि में अन्य ध्वनि का मधुर समावेश 'अन्य-राग काकु' है। ऐसा कहा जा सकता है कि जब किसी एक राग की छाया दूसरे राग में दिखाई देती है तो उसे अन्य-राग काकु कहा जा सकता है। रागों में प्रयुक्त स्वरावली में प्रयोग होने वाले स्वर जब दूसरे राग की छाया का आभास दे, तो वह अन्य-राग काकु है अर्थात् मुख्य राग के स्वर प्रयोग के समय जो अन्य राग का आभास देते हैं अथवा एक राग में गाते-बजाते समय अन्य रागों का माधुर्यपूर्ण समावेश किया जाता है तो वह अन्य राग काकु कहलाता है।

अन्य-राग काकु के अन्तर्गत मिश्रित रागों की भी चर्चा की जा सकती है। ऐसे भी राग हैं जो मिश्रित न होने पर भी कहीं किसी अन्य राग का अंश अपने में संजोये रखते हैं। जैसे राग बहार में कान्हाड़ा अंग आदि। यदि राग में किसी अन्य राग की छाया आती है तो पुनः मुख्य राग के स्वरों का प्रयोग करके मुख्य राग को स्थापित किया जाता है ताकि राग का स्वरुप श्रोताओं के सामने स्पष्ट रहे।

कभी-कभी कलाकार आविर्भाव-तिरोभाव का बड़ी कुशलता से प्रयोग करते हैं। जिससे वह मुख्य राग में अन्य राग के स्वरों का प्रयोग करके मुख्य राग के स्वरों को धूमिल कर देते हैं किन्तु आविर्भाव का प्रयोग करके पुनः मुख्य राग की सत्ता को

स्थापित कर लेते हैं। जिससे श्रोतागण आश्चर्यचकित रह सकते है। अतः आविर्भाव-तिरोभाव अन्य-राग काकु के अन्तर्गत आ सकते हैं इनके प्रयोग से कई रागों के मिश्रण करने में सहायता मिलती है जो राग के सौन्दर्य को बढ़ाकर रस भाव की सृष्टि करती है और प्रस्तुतिकरण को और मनमोहक बनाने में सहायक सिद्ध होती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि एक ही राग में एक या एक से अधिक रागों का अत्यन्त विचित्र और सरस मिश्रण सहित गाया अथवा बजाया जाना अन्य-राग काकु प्रयोग है।

## देश काकु-

*सा देशकाकुर्या रागे भवेद्देशस्वभावतः।। 123 ।।*

(संगीत रत्नाकर, पृ. 150)

अर्थात् देश के स्वभाव के कारण राग में जो छाया होती है, वह 'देश-काकु' है।

प्रदेश-भेद के कारण संगीत में जो भेद अनुभव में आता है उसी को देश-काकु कहा गया है। देश काकु कभी स्वर लगाने के ढ़ंग से, कभी विशेष प्रकार के कण्ठ गुण से कभी विशिष्ट स्वर संचारों से और कभी शब्दों के उच्चारण से पकड़ में आते हैं। जैसे- रागों के गान में कभी-कभी बंगाल और महाराष्ट्र के गायकों में देश-काकु का स्पष्ट अन्तर समझ में आता है। ऐसा मुख्य रूप से इसलिए है क्योंकि उनकी भाषा भिन्न है जिसके कारण उच्चारण भेद होता है। यही देश काकु है।

शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा लोक संगीत में देश-काकु अधिक स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। बंगाल, राजस्थान, पंजाब और गुजरात आदि का लोक संगीत देश काकु के सटीक उदाहरण हैं।

देश काकु उन विभिन्न संगीत प्रकारों अर्थात् रूपों से सम्बन्धित है जिन पर किसी विशेष स्थान, विशेष व्यक्ति अथवा विशेष परम्परा का प्रभाव दर्शित होता है। यहाँ देश का अर्थ मात्र एक विशेष स्थान से ही नहीं अपितु वहाँ की सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन, परम्परा तथा विशेषताओं से भी है, जिसका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव संगीत पर पड़ता है।

इसे 'देशी संगीत' के परिप्रेक्ष्य में भी समझ सकते हैं। प्राचीन संगीत ग्रन्थो में विद्वानों ने मार्गी-देशी संगीत के अन्तर्गत 'देशी संगीत' का वर्णन किया है।

मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष में चाहे वह जन्म-मृत्यु हो, पूजन-त्यौहार हो, विवाह हो, संध्या की चौपाल हो, प्राकृतिक सौन्दर्य अथवा ऋतुओं का वर्णन हो, खेती के समय गाए जाने वाले हो आदि सभी अवसर पर गीत गाकर आनन्दमग्न होना भारत में प्राचीन काल से ही चला आ रहा हैं। जिसे हम लोक-गीतो के रूप में परिभाषित कर सकते है। लोक-गीतों में-स्थानीय जन-स्वभाव, जन-रूचि, आचार-विचार भाषा आदि सभी कुछ स्वरों के भावों तथा रंग-रूपों को प्रभावित करता है। लोक-गीत में स्वरोच्चार तथा स्वर प्रयोग देश-काकु के अन्तर्गत आते है। लोक-गीतों में स्वरोच्चार तथा स्वर अत्यधिक निकट होने के कारण भाव की बड़ी सुन्दरता से दर्शाती है। ऐसा परिलक्षित होता है कि वह कोई भी राज्य हो, करबा हो अथवा प्रान्त हो, सभी की भावनाओं का प्रकटीकरण एक-सा होता है। ध्वनि में भावों का समावेश उसे संगीत में परिवर्तित करता है तथा संगीत में उन भावों का प्रकटीकरण काकु के द्वारा होता है और सम्भवतः लोक-गीतों में देश काकु, से भावों की अभिव्यक्ति हैं।

प्रत्येक प्रदेश में लोक-गीतों की रचनाओं में भिन्नता होती है। इससे स्पष्ट होता है कि हर एक क्षेत्र में शब्दों के अर्थ अर्थात् भाषा के अतिरिक्त ध्वनि-प्रयोग भी भिन्न है लोक गीतों के कोई निश्यित नियम नहीं होते उनमें शास्त्रीयता की अपेक्षा भावों की प्रधानता रहती है, जिनकी सिद्धि काकु-प्रयोग द्वारा होती है।

शास्त्रीय संगीत भी लोक संगीत से अछूता नहीं हे। लोक संगीत में रागों का दर्शन, राग-काकु के द्वारा होता है परन्तु लोक गीत रागों के अनुचर नहीं हैं। पहले भी कहा जा चुका है कि लोक गीतों में शास्त्रीयता व नियमों की अपेक्षा भावों का महत्त्व होता है किन्तु राग तो शास्त्रीय नियमों से बद्ध होते है, इसी कारण यह कहा गया है कि लोक गीत रागों के अनुयायी नहीं हैं। ऐसे बहुत से राग है जिनकी उत्पत्ति लोक धुनों से हुई है। इन धुनों के जो भाव निर्धारित किये गए है वही भाव इनसे सम्बन्धित रागों में भी दृष्टिगत होते हैं। यह भी कहा जा

सकता है कि कुछ शास्त्रीय रागों की उत्पत्ति लोक-धुनों के द्वारा हुई। जैसे-पहाड़ी, गारा, मांड इत्यादि। इन रागों में जो स्वर प्रयोग हैं अथवा स्वरों का जो चलन है वह स्थान-विशेष पर आधारित है।

शारंगदेव ने वाग्गेयकार के गुण-दोषों में गौड़ी, वैदर्भी, पांचाली आदि विभिन्न काव्य-शैलियों का वर्णन किया है जो अपने प्रदेशों की भाषा के उच्चारण से सम्बन्धित है अर्थात् इन शैलियों के नाम से ही उनके प्रदेशों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जो देश काकु को दर्शाता है। अंतः उच्चारण देश काकु का एक अभिन्न अंग है, जो विभिन्नता को दर्शाता है।

एक ही राग का प्रस्तुतिकरण अलग-अलग कलाकार भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। उनकी अपनी भिन्न शैली होती है, स्वर लगाने का अलग कायदा होता है जिनका प्रयोग वह अपने अनुसार करके श्रोताओं को आनन्दानुभूति कराते हैं। इस भिन्नता का एक कारण देश-काकु को भी माना जा सकता है। राग समान हैं, रागों में प्रयोग होने वाले स्वर भी समान है परन्तु स्वर लगाने का तरीका, स्वरोच्चार, स्वर-प्रयोग आदि देश-काकु के द्वारा ही परिलक्षित होते हैं। जिसके अनुसार विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ होगा जो संगीत के विभिन्न घराने की नींव पड़ी उनके निवास स्थान के आधार पर उस घराने का नामकरण हुआ; अतः इसका सम्बन्ध स्थान विशेष से होने के कारण यह देश-काकु के अन्तर्गत आ सकते हैं।

देश काकु कभी स्वर लगाने के ढ़ग से, कभी विशेष प्रकार के कण्ठगुण से, कभी स्वर शास्त्रीयसंचारों से तो कभी शब्दोच्चार से समझ में आते हैं। शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा लोक-संगीत में देश काकु अधिक स्पष्ट रूप से पहचाने जा सकते हैं।

*शरीरं क्षेत्रमित्युक्तं प्रतिक्षेत्रं निसर्गतः।*
*रागे नानाविधा काकुः क्षेत्रकाकुरिति स्मृता।।124।।*
(संगीत रत्नाकर, पृ. 151)

अर्थात् शरीर को क्षेत्र इस प्रकार से कहा गया है। हर शरीर में प्राकृतिक रूप से कई तरह की काकु होती है। राग के सन्दर्भ में क्षेत्र काकु का स्मरण इस प्रकार किया गया है।

''मूलतः मनुष्य के उस कण्ठ गुण का नाम क्षेत्र काकु है, जिसके द्वारा किसी व्यक्ति की अपनी कण्ठ ध्वनि की पहचान होती है अथवा एक से दूसरे मनुष्य की आवाज़ का भेद पहचाना जाता है।''[1]

संगीत में ही यह अन्तर झलकता है। गायक का नाम जाने बिना भी किसी राग की प्रस्तुति होते हुए सुनकर पहचान लिया जाता है और कहा जाता है कि अमुक गायक गा रहा है।

''पार्श्वदेव द्वारा दिए गए क्षेत्र-काकु के लक्षण में ऐसा ही संकेत है जहाँ यह कहा गया है कि रंजक स्वभाव के कारण अगर किसी राग में किसी गायक की छाया दिखाई दे तो वह क्षेत्र-काकु कहलाती है।''[2]

क्षेत्र काकु देश काकु की पकड़ में सहायक होती है क्योंकि रागों के गायन में कण्ठ-ध्वनि के द्वारा यह भी समझ में आता है कि गायक अथवा गायिका किस प्रदेश-मूल के हैं।

क्षेत्र-काकु प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरूष, के व्यक्तित्व तथा कण्ठ के गुण-धर्म से सम्बन्धित है। गायन में ही नहीं अपितु वादन की क्रिया में भी वाद्य के बोल भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हाथों अलग-अलग बजाये जाने पर अमुक कलाकार की अलग पहचान स्पष्ट हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य की आवाज़ का अपना एक निजी स्वाभाव व गुण होता है, जो प्रयोग के समय दर्शित होता हैं; इसी गुण के कारण इसे पहचाना जा सकता है। किसी व्यक्ति की आवाज़ तेज़ अथवा तीक्ष्ण, किसी की हल्की, किसी की भारी तो किसी की महीन होती है और साथ ही प्रत्येक व्यक्ति ध्वनि का प्रस्तुतिकरण अपनी समझ व क्षमतानुसार करता है। श्रोताओं को सर्वप्रथम गायक की कण्ठ ध्वनि ही प्रभावित करती है।

प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित शब्द-भेद का वर्णन ध्वनि की भिन्नता को दर्शाने का एक साधन ही है, जिसे क्षेत्र-काकु के अन्तर्गत रखा जा सकता है। मानव-कण्ठ के भिन्न भेद, विभिन्न भावों का प्रदर्शन तथा कण्ठ गुण संगीत के लिए बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इन सबका प्रभाव राग प्रस्तुतिकरण पर पड़ता है जिससे स्वरों में भी भिन्नता आ जाती है।

काकु प्रयोग के लिए कण्ठ के विभिन्न गुण-धर्म बहुत सहायक होते हैं। घराने इसका उत्तम उदाहरण हैं। विभिन्न घरानों का उद्भव जो देश-काकु में वर्णित है, वह उनमें आवाज़ लगाने की भिन्नता, लय-स्वरादि के प्रयोग उनकी समझ व क्षमता अर्थात्

क्षेत्र-काकु के आधार पर हैं। एक ही घराने के गायिका किशोरी अमोनकर तथा अश्विनी भिंडे देशपांडे की गायकी में अन्तर है। आवाज़ की यह विशिष्टता अर्थात् छाया क्षेत्र काकु का ही परिणाम है। कुछ गायकों की आवाज़ गंभीर रागों में व कुछ की आवाज़ चंचल प्रकृति के रागों में अच्छी लगती है ऐसा क्षेत्र-काकु के कारण ही होता है। अपनी कण्ठ की क्षमता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वर-प्रयोग करना ही क्षेत्र-काकु है।

## यंत्र काकु-

*विणावंशदियन्त्रकाकुः सतां मता।*

(संगीत रत्नाकर, पृ. 151)

विद्वानों में वीणा, वंश आदि वाद्यों से उत्पन्न छाया 'यंत्र-काकु' मानी गयी है।

''यन्त्र-काकु का सम्बन्ध वाद्यों की ध्वनि के विशेष गुण से है; इसे और भी तरीके से समझा जा सकता है।

1. वीणा, सितार आदि तंत्री वाद्यों और बाँसुरी, बीन आदि सुषिर वाद्यों की काकु विशेषता के द्वारा उन्हें तंत्री या सुषिर की ध्वनि के रूप में पहचाना जाता है। जैसे वाद्यवृन्द में एक ही राग बजाने पर विभिन्न वाद्यों की ध्वनि अलग-अलग पहचानी जा सकती है जो वाद्य की अपने स्वयं के काकु का गुण है।
2. एक ही वाद्य के अलग-अलग नमूनों में भी काकु का अन्तर समझ में आता है, जिसके कारण कभी-कभी यह कहा जाता है 'अमुक' के सितार की ध्वनि का कोई जोड़ नहीं है।' ऐसे यंत्रों की रचना, आकार और पदार्थ जिससे यंत्र बना हो भी प्रभाव डालते हैं।
3. एक ही वाद्य के अलग-अलग नमूनों का अपना नियत स्वरक्षेत्र होता है कहने का तात्पर्य यह है कि कोई वाद्य अति-तार-सप्तक तक तो कोई अति-मन्द्र तक भी जा सकता है। यही कारण है कि वाद्य को उसी के स्वर क्षेत्र में मिलाने पर वो अधिक अच्छा बोलता है।
4. यंत्र-काकु को राग के सन्दर्भ में एक और ढ़ंग से भी समझ सकते हैं। कुछ वाद्यों की विशेष ध्वनि के कारण विशेष राग उनके लिए अधिक उपयुक्त होते है। उदाहरण के लिए, सारंगी की अपेक्षा बीन में दरबारी कान्हड़ा व मियां मल्हार अधिक अच्छे लगते हैं।
5. एक ही राग को विभिन्न वाद्यों में बजाने पर उनके प्रभाव में जो अन्तर अनुभव में आता है वह भी मुख्य रूप से वाद्य की अपनी काकु का परिणाम होता है।''

जिस प्रकार क्षेत्र-काकु मानव के कण्ठ ध्वनि से सम्बन्धित है उसी प्रकार यंत्र-काकु वाद्यों की ध्वनि से सम्बन्धित है। वीणा, सितार, इसराज, जलतरंग, बाँसुरी इत्यादि वाद्य यंत्रों से उत्पन्न जो अपना काकु होता है, उसे परस्पर भिन्नता करके उन्हें बिना देखे ही केवल श्रवण मात्र से पहचान लेते हैं कि यह ध्वनि अमुक वाद्य की है।

ध्वनि की भिन्नता वाद्य की बनावट, तकनीकी तथा सामग्री पर भी आधारित है जो वाद्यों को ध्वनि के आधार पर अलग-अलग करती है, ऐसा यंत्र-काकु के द्वारा दृष्टिगोचर होता है।

यंत्र-काकु से संगीत में यंत्र अथवा वाद्य के किसी एक विशेष प्रभाव का बोध होता है, इसी छाया को यंत्र-काकु कहते हैं।

''काकु के छः भेदों में से अन्तिम तीन अर्थात् 'देश काकु', 'क्षेत्र काकु' और 'यंत्र काकु' के विषय में यह शंका उठाई जा सकती है कि इनका राग से क्या सम्बन्ध है? क्योंकि यह क्रमशः 'प्रदेश-भेद', 'कण्ठ-गुण' और 'वाद्य के ध्वनि गुण' से सम्बन्धित हैं। किन्तु इनकी व्याख्या में इनके राग-सम्बन्ध के विषय में यह स्पष्ट किया गया है कि इनका राग के बर्ताव, प्रस्तुति के ढ़ंग और प्रभाव से गहरा सम्बन्ध है। एक ही राग के गाने और बजने में कण्ठ और वाद्य के अपने-अपने माध्यम की विशेषताओं और सीमाओं के कारण 'यह वही राग है' यह अनुभूति होते हुए भी उनमे कुछ अन्तर सुनाई देता है और प्रभाव भी कुछ अलग हो जाता हे। यह भिन्नता प्रदेशगत वैशिष्ट्य, अलग-अलग होती है। काकु के पहले तीन भेद-स्वर-काकु, राग-काकु और अन्य-राग काकु सीधे राग के रूप से सम्बद्ध हैं और अन्य तीन का सीधा सम्बन्ध राग-रूप से न होकर राग के प्रभाव से है।''

# हिमाचली प्रदेश के मण्डी क्षेत्र की लोक गीत शैलियाँ

**ऋचु कालिया**

पहाड़ी प्रदेश हिमाचल का एक अत्यन्त मनोहारी जनपद मण्डी नाम से विख्यात है। 15 अप्रैल 1948 को नवगठित हिमाचल प्रदेश में सुकेत और मण्डी रियासतों को मिलाकर मण्डी ज़िला बनाया गया है।[1] मण्डी शब्द की उत्पत्ति हिन्दी अंग्रेजी के मार्केट, संस्कृत शब्द के मण्डिपिका आदि शब्दों से जुड़ा प्रतीत होता है। क्योंकि यह स्थान व्यापार का केन्द्र रहा है तथा इसे संस्कृत शब्द मण्ड से उद्‌भूत माना है।[2] वस्तुतः यह मण्डी जनपद हिमाचल प्रदेश का मध्यवर्ती ज़िला है जो भूमध्य रेखा से $310003^0$ से $320004^0$ उत्तरी आक्षांश तथा $76040^0$ से $77022^0$ पूर्वी रेखांश के मध्य स्थित है।

मण्डी जनपद की पावन धरा युगों-युगों से ऋषि-मुनियों, पीर-पैगम्बरो, सन्त-फकीरों की तपोभूमि रहा है। सर्व धर्मों की प्रतीक यह धर्म स्थली हिन्दू-मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई तथा बौद्ध आदि प्रमुख समप्रदायों की एकता का प्रतीक है। यहाँ अनेक धर्मों के गुरुओं का आगमन होता रहा है। यहाँ देवी-देवताओं के मन्दिर, शिवालय, शक्तिपीठ व गुरुद्धारों का आधिक्य है। अत्यन्त पावन नदी व्यास के तट पर स्थित ऐतिहासिक गुरुद्धारा सिक्ख धर्म के दसवें गुरु गोविन्द सिंह व मण्डी के राजा के घनिष्ठ सम्बन्धों एवं अभयदान की स्मृति जगाता है। भूतनाथ मन्दिर, कमरुनाथ, कामाक्षा देवी मन्दिर, त्रिलोकीनाथ मन्दिर, अर्धनारीश्वर मन्दिर, माता खुआरानी आदि अनेकानेक प्राचीन मन्दिर यहाँ के धार्मिक, सांस्कृतिक आस्थाओं के प्रतिबिम्ब हैं। मण्डियाली यहाँ की जनपदीय भाषा है जिसमें लोक साहित्य व लोक संगीत की धारा सतत् प्रवाहमान है।

मंडियाली संस्कृति के समुचित दर्शन मंडियाली लोक गीतों में परिलक्षित होते हैं। यहाँ लोक गीत की अनेकानेक शैलियाँ प्रचलित हैं जो इस लोक संगीत के भण्डार को समृद्ध किये हुये हैं। इन गीत शैलियों में छिंझ, छिझोटी, लुड्डी, नाटी, गिद्धा, बिहागड़ा, बालो, चरकटी, नाट्य गीत, ऋतु गीत, घटना प्रधान गीत, बारहमासा तथा छमासा आदि गीत शैलियाँ लोकप्रिय हैं जिनमें मंडियाली लोगों के संघर्षमय जीवन, आशा-निराशा, प्रेम-घृणा, श्रद्धा भक्ति करुणा तथा प्रत्येक मनोभावों का स्पष्ट चित्रण मिलता है। मंडियाली गीतों का भण्डार अत्यन्त विषद् है। मंडियाली गीत शैलियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैः-

### 1. छिंझ गीत

मंडियाली छिंझ गीत शैली एक अनूठी शैली है जिनको बसन्त के आगमन पर विशेष रूप से सुना जा सकता है। वास्तव में यह शैली मंडियाली संस्कृति की सबसे मूल्यवान गीत शैली है जो संगीत और साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखती हैं। इसमें रस भाव लय ताल और साहित्य का सुन्दर समन्वय देखा जा सकता है। इन गीतों में सामाजिक परिवेश का स्पष्ट चित्रण दिखाई देता है जिसमें परिवार में व समाज में होने वाली समस्त घटनाओं का सुन्दर रीति से वर्णन मिलता है। इन गीतों ने जीवन के आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज़ तथाा धार्मिक मान्यताओं का सम्वर्धन किया है। इन में प्रणय, वेदना, पारिवारिक कलह व समस्यायें तथा सास-ननद आदि से सम्बन्ध गीतों का अक्षुण्ण भण्डार पाया जाता है। ये गीत जन जीवन में इस प्रकार घुले

शोध छात्र, वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

मिले हैं कि मनुष्य इन गीतों को कभी अपने से अलग नहीं कर सकता। छिंझ गीत की परम्परा को विकसित करने में स्त्री वर्ग का प्रमुख हाथ रहा है।

मण्डी जनपद का अत्यन्त लोकप्रिय गीत इस प्रकार हैः-

उडी जायाँ उडी जायाँ कालेया कागा
एक बो सनेहा नई जायाँ
केस जो देणा तेरा सुख ओ सनेहा
केस जो देणी बांकी चिठियाँ
आम्मा जो देणा मेरा सुख ओ सनेहा
बापूये जो देणी बांकी चिठियाँ
किधिये मढ़ाऊँ तेरे कालेया पँखा
किधिये मढ़ाऊँ तेरी चूँजा
सुइने मढ़ाऊँ तेरे काले पँखा
रूपे मढ़ाऊँ तेरी चूँजा

स्वरलिपि (ताल चाचर, 14 मात्र)

| | | | |
|---|---|---|---|
| ग ग रे | ग प प - | म ग रे | नि़ - सा - |
| उ डी ऽ | जा ऽ याँ ऽ | उ डी ऽ | जा ऽ या ऽ |
| रे म ग | सा - रे - | नि़ - - | ध़ - प़ - |
| का ऽ ऽ | ले ऽ ऽ या | का ऽ ऽ | गा ऽ ऽ ऽ |
| म़ प़ - | नि़ - - नि़ | सा सा सा | रे - ग - |
| ए क ऽ | बो ऽ ऽ स | ने हा ऽ | ल ऽ ऽ ई |
| नि़ - - | सा - - - | - - - | - - - - |
| जा ऽ ऽ | याँ ऽ ऽ ऽ | ऽ ऽ ऽ | ऽ ऽ ऽ ऽ |

इस गीत में नायिका काले कौवे से आग्रह करती है कि वह उसके मायके जाकर उसका सन्देश पहुँचा दे। इस कार्य के लिये वह कौवे के काले पँख सोने से और चोंच चांदी से मढ़ाने का प्रलोभन देती है। गीत चाचर ताल में निबद्ध है तथा तिलक कामोद राग की छाया से युक्त है।

मंडियाली छिंज गीतों की विशेषता है कि ये गीत एक विशेष शीर्षक के अन्तर्गत रहते हैं और गीत काफी लम्बा रहता है। इस प्रकार एक गीत बहुत समय लेता है और स्त्रियाँ पूरी रात छिंज गाती नहीं थकतीं। अधिकतर गीत पीलू, पहाड़ी, तिलक कामोद, खमाज आदि रागों में निबद्ध मिलते हैं तथा ताल की दृष्टि से चौदह मात्रिक ताल रचनाओं में अर्थात् चाचर ताल में गीत गाये जाते हैं।

## 2. छिंझोटी

यह गीत शैली छिंज की भान्ति ही है परन्तु इसका चलन चंचल रहता है। इन गीतों में पति-पत्नी तथा प्रेमी-प्रेमिका के प्रणय सम्बन्धों का वर्णन मिलता है। यथाः-

पत्नी सजन गये परदेस कदी घर आओणा
लिखि लिखि भेजूँ कोरा कागज कंता मेरेया
आम्मा रा मान्दड़ा जे हाल
तुसा घरा आई जाणा
फेरा तुसा पाई जाणा
पति देई भेजूँ द्रव बोरियाँ
करी लैणा अम्मा जी रा लाज
मेरा आऊणा घरे नई
पत्नी लिखि लिखि भेजूँ कोरे कागज कंता मेरेया
तुसांरी नाजो रा मान्दड़ा जे हाल
तुसां घरा आई जाणा
फेरा तुसां पाई जाणा
पति हाथा ते छुटी नाजो कलम जे मेरिये
आंझूये भीगेया रूमाल
मेरा आऊणा घरा हुआ।

इस गीत में पत्नी अपने पति से घर की सुध लेने का आग्रह करती है तथा परिवार के सदस्यों की अस्वस्थता का बहाना करती है जिसे पति समझ लेता और परदेस से आर्थिक सहायता देने का वचन देकर आने से मना कर देता है। परन्तु पत्नी तो पति के विरह में दुःखी रहती है। अन्त में वह अपनी बीमारी का बहाना बनाकर पति को आने के लिये पत्र लिखती है। उसका पति काम छोड़कर पत्नी से मिलने घर को रवाना हो जाता है।

मण्डी जनपद में छिजों और छिजोंटियाँ का अनन्त भण्डार है। कई वृद्धा स्त्रियाँ जब गीतों को सुनाने बैठती है तो रात से सुबह हो जाती है परन्तु उनके भण्डार में कमी नहीं आती।

### 3. भ्यागड़ा गीत

यह गीत शैली शिक्षाप्रद गीतों के लिये जानी जाती है। अतः अधिकतर गीत शान्त रस के परिचायक है। इन गीतों मे दया, दान, धर्म, तीर्थ, सत्य, व्रत, झूठ आदि विषय समाहित रहते हैं जो संसार सार तथा धर्माचरण का उपदेश देते हुये वैराग्य के भावों का संचार करते हैं। इन गीतों को रचने व लोकप्रिय बनाने में साधु वर्ग के लोगों को श्रेय जाता है। धन्तारु तथा डफ वाद्य यंत्रों के साथ इन गीतों को गाते हैं। गीतों की कुछ पक्तियाँ इस प्रकार हैः-

*विपदा निवारेगा भगवान*
*चिन्ता मन में काहे को करे*

अर्थात् ईश्वर सबकी रक्षा करते हुये सब के दुःख दूर करता है। अतः मानव को चिन्ता नहीं करनी चाहिये। इस गीत को एक गाथा से जोड़कर सुनाया जाता है और मनुष्य ईश्वर पर सब कुछ छोड़ देने का उपदेश दिया जाता है। एक अन्य गीत में जीवन दर्शन का सुन्दर उदाहरण दिया गया है। यथाः-

*भौरा उड़ी जाणा ओ पिंजरा खाली रेहमदा*
*मैहल वणया ओ मोहणा तेरी सौंक दा*
*कल उड़ी जाणा ओ पिंजरा खाली रेहमदा*

अर्थात् मनुष्य अपनी सुविधा के अनेक साधन जुटाता है परन्तु मृत्यु के उपरान्त सब धरा का धरा रह जाता है और भरा हुआ पिंजरा खाली हो जाता है।

मनुष्य के कार्य कलाप कभी समाप्त नहीं होते। इनको भुलाकर सदैव ईश्वर का स्मरण करना चाहिये, ऐसे भाव इस गीत में पाये जाते हैं यथाः-

*इन्हा धन्धेयाँ ने नई मुकणा भजन कर*

एक अन्य लोकप्रिय भ्यागड़ा गीत में गंगा स्नान का सुन्दर वर्णन मिलता है जैसेः-

*गंगा दे न्हौणे जांदा मेरे मोहणा*
*गंगा दे न्हौणे जांदा हो*
*हाथा लैंदा लोटकु काछा लैंदा धोती*
*गंगा दे न्हौणे जांदा हो*
*बाही साही टुकड़ा खाँदा मेरे मोहणा*
*बाही साही टुकड़ा खाँदा हो*

एक अन्य गीत कृष्ण की लीला से सम्बन्धित इस प्रकार हैः-

*पहर सबेला री गईरी नी बहुये*
*दिन चढ़ने जो आया दिलो जान अडिये*
*सब सब गुजरियाँ पाणी ते आई गईयां*
*तैं केथि लाईं एडी देर दिला जान अड़िये*
*जमना कनारे मेरा बेसर ग्वाहेया अड़ेया*
*टोलदे टोलान्दे लगी देर दिला जान अडिये*

### 4. नृत्य गीत

मंडियाली नृत्य गीत शैली में यद्यपि लुड्डी, नाटी, गिद्धा, चरकटी आदि गीत बहुत लोकप्रिय हैं तथापि लुड्डी गीत और नृत्य इस जनपद की विशेष पहचान है। यह शैली मण्डी के बल्ह क्षेत्र में विकसित हुई है। इन गीतों में हास्य और शृंगार के भाव मिलते हैं। गीत लय प्रधान होते हैं जिनमें सीमित शब्द अर्थात एक पंक्ति को अनेक बार गाते हुये नृत्य किया जाता है। विवाह शादी और विशेष अवसरों पर इन गीतों का अधिक प्रचलन रहता है। अतः लुड्डी नृत्य व गीत मंडियाली लोगों की सर्वाधिक प्रिय शैली है।

लुड्डी नृत्य एक वृत में नाचते हुये किया जाता है। जिसमें लुढकने जैसे भाव प्रतीत होते हैं। इस लुढकने की मुद्रा से ही इसका नाम लुड्डी पड़ा है। लुड्डी गीत इस प्रकार हैंः-

*भण भोलुआ ओ*
*कुड़मा रे छापरा पर नाच मुआ तू*

अर्थात् हे भ्रमर तू हमारी समधी की छत पर जाकर नाच। शृंगार के भाव एक अन्य गीत में इस प्रकार हैः-

*उड़ परदेसियां भौरा हो*
*कदि बीनी देखिरा सौरा हो*

अर्थात् ऐ भंवरे उड़ने के लिये तैयार हो जा क्योंकि जिस ससुर को कभी नहीं देखा उसे अब देखने का अवसर मिला है।

### 5. बालो गीत

इन गीतों में नायक-नायिका के सवाल-जवाब रहते हैं। मेलों पर इन गीतों को बड़े चाव से गाया जाता है तथा मन की भावनाओं को गीत के माध्यम

से प्रकट किया जाता है। इन गीतों में साहित्यिक तत्त्व कम रहता है और दो या तीन पक्तियों की एक कड़ी बनती है जिसमें प्रश्नोत्तर रहता है। पहली पंक्ति का दूसरी पंक्ति से कोई मेल नहीं रहता अपितु तुकबन्दी के लिये यह पंक्ति बहुत सुन्दर प्रतीत होती है। बालो गीत को अनिबद्ध रूप से अर्थात् गीत को फैलाकर बिना ताल के भी गाया जाता है। बालो का दूसरा रूप निबद्ध रूप है जिसमें ताल व लय की सुन्दर योहना विद्यमान रहती है। गीतों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैः-

1. *उच्चे धारा ते लागा रेडिया*
   *केथिरे स्कूला पढ़ीरे*
   *केथि सीखिरिया गलां एढ़िया*
2. *भात खाई लैणा चिनियाँ कन्ने*
   *आसा केडे पुत पालणे*
   *दिन काटणे सकिनियाँ कन्ने*

## 6. बारामासा व छमासा गीत

मंडियाली गीत शैलियों में बारामासा तथा छमासा गीत बहुत महत्त्व रखते हैं। इन गीतों में जहाँ विभिन्न ऋतुओं अथवा मास का वर्णन मिलता है वहीं प्रत्येक मास से जुड़ी हुई मनोदशा का सरल चित्रण मिलता है। इन गीतों में नायिका की विरह वेदना का वर्णन मास में होने वाले क्रिया-कलाप के अनुसार देखने को मिलता है। बारामासा में सम्पूर्ण बारह मासों का छमासा में छः मास के वियोग भावनाओं का वर्णन सुन्दर ढंग से किया जाता है। यथाः-

*आयो महीना वसाख*
*आली पाकी दाख*
*जिऊड़ा उदास*
*जिऊड़े नी डोलदी*
*जिन सखियाँ दे पी परदेस*
*मने करदी विचार*
*मुख से ने बोलदी*

इस प्रकार प्रत्येक मास की गतिविधियों का उल्लेख इन गीतों में मिलता है।

उपरोक्त वर्णित गीत शैलियों के अतिरिक्त मंडियाली गीतों में संस्कार गीतों का विस्तृत भण्डार पाया जाता है। इनमें जन्म संस्कार से लेकर मृत्यु संस्कार तक के गीत उपलब्ध हैं। सर्वाधिक गीत विवाह संस्कार के हैं जिनमें प्रत्येक रस्म के अनेकानेक गीत सुनने को मिलते हैं। इसके अतिरिक्त लोहड़ी के गीत, फाग के गीत, बुढला गीत, बांठडा गीत, सावन के गीत तथा व्यावसायिक जातियों के लोगों के गीतों से मंडियाली सांस्कृतिक भण्डार भरा है।

## सन्दर्भः-

1. गोपाल दिलैक, जनपद का उदय (लेख) हिप्रस्थ मार्च 2014, पृष्ठ- 21
2. हचिसन बोगल, हिस्ट्री ऑफ पंजाब हिल स्टेट्स, खण्ड-दो, पृष्ठ- 373
3. गोपाल दिलैक, जनपद का उदय (लेख) हिप्रस्थ मार्च 2014, पृष्ठ- 18

# लोकसंगीत एवं लोकवाद्य

**दीपक कुमार राय**

लोकसंगीत गीत का वह प्रकार है, जो सदियों से समाज की रीति-रिवाज, जीवन-पद्धति, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, मिलन-विरह आदि के शाश्वत भावों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोककंठों के माध्यम से व्यक्त होता रहा है। यह जीवन के वास्तविक भावनाओं तथा सामाजिक परंपराओं से जुड़ा होता है। लोकसंगीत हमारे जीवन के विकास का इतिहास है, जिसमें जीवन के सुख-दुख, सामाजिक स्थिति, और जीवन के समस्त उतार-चढ़ाव की भावनाएं व्यक्त होती है। यह मानव के भिन्न-भिन्न स्थानों के सामाजिक जीवन धर्म एवं परंपरा पर आधारित हैं। लोकसंगीत मानव जीवन का गंगा-यमुनी प्रवाह है जो छंदशास्त्र एवं अलंकारों के नियमों से मुक्त रहता है। यह शब्द अपने आप में प्रधान होता है और यह शास्त्रीय संगीत के समय में न बंधकर अवसर से बंधा रहता है। विद्वानों का ऐसा मत है कि संसार की सृष्टि के साथ ही लोकसंगीत का उद्‌भव हुआ। इसके रचनाकार प्रायः अज्ञात हैं, क्योंकि इसकी रचना में किसी एक व्यक्ति विशेष का हाथ न होकर संपूर्ण मानव समाज का ही हाथ रहा है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि जब किसी भी लोकसंगीत को संस्कृति, समाज और जनकंठ का आस्थापूर्ण आधार मिलता है, तभी तो वह लोक-हृदय पर युग-युग से राज करता चला आ रहा है। मानव एक सामाजिक प्राणी होने के नाते भावनाओं के आवेग में रस-विभोर होकर अपने मुख से स्वर लहरी एवं पदों के माध्यम से लोकसंगीत का निर्माण करता है।

हमारे देश में सांस्कृतिक धरोहरों के रूप में लोकसंगीत का एक महत्वपूर्ण स्थान है। हमारे संगीत के विविध रूपों में लोकगीत जन-जन के अंतर की भावनाओं की अभिव्यक्ति है। लोकगीत या लोकसंगीत क्षेत्रीय भाशाओं पर आधारित होता है, जिसमें राष्ट्रभाषा से हटकर उस क्षेत्र में रहनेवाले लोगों में बोले जानेवाले स्वाभाविक भाषा का आधार रहता है। जैसे बिहार में हिन्दी के अतिरिक्त मैथिली, भोजपुरी, मगही, अंगिका, बज्जिका, संथाली, उत्तर प्रदेश की बनारसी अवधी, ब्रजभाषा, बंगाल की बंगाली, राजस्थान की राजस्थानी, पंजाब की पंजाबी लोकगीत आदि।

देशी संगीत के विकास की पृष्ठभूमि लोकसंगीत है। लोकसंगीत दो शब्दों 'लोक' और 'संगीत' का समुच्चय है। जिसका अर्थ है-'जनमानस में प्रचलित सहज संगीत।'

## लोकशब्द की व्याख्या

'लोक' शब्द संस्कृत के 'लोकदर्षन' धातु में 'ध' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इस धातु का अर्थ है देखना। जिसका लट् लकार के अन्य पुरूष के एक वचन का रूप है, 'लोकते'। अतः 'लोक' शब्द का अर्थ हुआ देखने वाला। इस प्रकार वह समस्त जन समुदाय जो इस कार्य को करता है 'लोक' कहा जा सकता है। 'लोक' शब्द से ही हिन्दी के 'लोग' शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है। जिसका तात्पर्य है सर्वसाधारण जनता। इस प्रकार 'लोक' शब्द का अभिप्राय उस समस्त जनसमूह से है जो किसी देश में निवास करते हैं। डॉ. कुंज बिहारी दास ने 'लोक' को परिभाषित करते हुए लिखा है- The people that live more or less in primitive conditions outside the sphere of sophisticated influence."[1]

---

शोध छात्र, वि. वि. संगीत विभाग, ति. मां. भागलपुर वि. वि., भागलपुर

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार - 'लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है। उसमें भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है।'[2]

डॉ. श्याम परमार के अनुसार - ''आधुनिक साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों में लोक शब्द का प्रयोग गीत, कथा, वार्ता, संगीत आदि से युक्त होकर साधारण जन समाज जिसमें पूर्व संचित परंपराएं, विश्वास और आदर्श सुरक्षित है तथा जिसमें भाषा और साहित्यगत सामग्री ही नहीं अपितु अनेक विषयों के अनपढ़ किन्तु ठोस रत्न छिपे हुए हैं, के अर्थ में होता है।'[3]

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार - 'लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नहीं है बल्कि गांवों और नगरों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिसके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं है।'[4]

'लोक' शब्द का अर्थ व्यापक है। लोक मनुश्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना एवं अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।[5]

## संगीत शब्द की व्याख्या

सम+गीतं = संगीतं अर्थात् संगीत शब्द दो शब्द सम् जिसका अर्थ है 'एक साथ' एवं गीतं जिसका अर्थ हुआ 'गाया गया' से मिलकर बना है। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ एक संग होकर गाना बजाना। सरस ब्रह्म की रसवर्षा ही संगीत है, संगीत ईश्वरीय वरदान है। संगीत एक ललित कला है अर्थात् सुन्दर और मनोहर ''संगीत कं न मोहयेतु'' अर्थात् संगीत से कौन मोहित नहीं होता। संगीत रत्नाकर में शारंगदेव ने संगीत को परिभाषित करते हुए लिखा है, 'गीतं वाद्यं च नृत्यं त्रयः संगीतमुच्यते'। अर्थात् गाना, बजाना और नाचना तीनों का सम्मिलित रूप संगीत कहलाता है। संगीत शब्द कहने से उपर्युक्त तीनों अंग का समन्वयात्मक रूप आ जाता है, किन्तु मात्र वादन और नर्तन से संगीत को संपूर्ण नहीं माना जा सकता, कारण तीनों अंगों में गायन को प्रधान अंग माना गया है। संगीत पारिजात में इसे स्पष्टता प्रदान करते हुए अहोबल ने लिखा है जो द्रष्टव्य है-

*गीतवादितत्रन त्यानां त्रयं संगीतमुच्यते।*
*गानस्याष्मत्र प्रधानत्वाशत् संगीतमितीरिम्।।*[6]

गायन, वादन तथा नर्तन तीनों को संगीत कहते हैं। संगीत के भाव, राग और ताल ऐसे तीन भेद हैं। तीनों भेद का प्रयोग एकसाथ सिर्फ गान में ही होता है। वादन में राग व ताल का प्रयोग होता है, भाव का अभाव रहता है। उसी प्रकार नर्तन में भाव व ताल का प्रयोग होता है राग का अभाव रहता है। भाव, राग और ताल इन तीनों को गान में ही सिर्फ दिखाया जा सकता है। जैसे-गीत के शब्द भाव प्रकट करते हैं, गान के स्वर राग प्रकट करते हैं और गान की लय ताल प्रकट करता है।[7] संगीत मानव जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी न किसी रूप में हमेशा जुड़ा हुआ है इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता क्योंकि जन्म लेते ही बच्चे का सुर में रोना और बच्चे के जन्म की खुशी घर की महिलाएं तुरंत थाली बजाकर व्यक्त करती है तथा साथ ही साथ सोहर गाने की प्रथा भी है। संगीत एक कला है, साधना है, पूजा है, तपस्या है। साधना और तपस्या के बल पर स्वर और ताल पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। संगीत उस नैसर्गिक और सनातन भाषा का नाम है जिसके माध्यम से प्राणी मात्र ही उनके समयानुसार हृदय के गुप्त और अव्यक्त भावों को हाव भाव और कण्ठ स्वर द्वारा समश्रेणी के प्राणियों में अनायास व्यक्त और वितरित किया करते हैं। पं. जगदीश नारायण पाठक के अनुसार - 'संगीत वह ललित कला है, जिसमें स्वर, लय और ताल के माध्यम से संगीतज्ञ अपने मनोगत भावों को व्यक्त करता है।' अर्थात् संगीत वह कला है जिसका प्रमुख कार्य मनुष्य के सूक्ष्माति सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के लिए सबसे उपयुक्त माध्यम है। मानव हृदय का ही दूसरा नाम संगीत है। शास्त्र मतानुसार, गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनों कलाओं का योग ही संगीत है। परंतु संगीत की यह परिभाषा अपूर्ण है। वास्तव में तो संगीत हृदय से उत्पन्न होता है, हृदय पर ही अपना प्रभाव डालता है और फिर हृदय में ही लीन हो जाता है। संगीत वह रहस्यमय रचना है, जिसके द्वारा मानव के हृदय के उद्‌गारों को दूसरों के सामने प्रकट करता है और उसी प्रकार दूसरों के मनोगत भावों को स्वयं समझ भी सकता

है।[8] सरस ब्रह्म की रसवर्षा ही संगीत है, संगीत ईश्वरी वरदान है, संगीत एक ललित कला है अर्थात् सुन्दर और मनोहर, 'संगीत कं न मोहयेतु' अर्थात् संगीत से कौन मोहित नहीं होता। गायन, वादन और नृत्य की समन्वयात्मक संज्ञा संगीत है। संगीत मनुष्य में ही नहीं वरन् सभी जीवों में आनंद का आविर्भाव करता है। आनंद स्वयं ईश्वर का ही स्वरूप है। संगीत मनुष्य के दुःख को नाश कर सुख का संचार करता है। संगीत ईश्वर का स्वरूप होने के कारण जो व्यक्ति संगीत का नित्य अभ्यास करता है वह तप, दान, यज्ञ, कर्म, योग आदि का कष्ट सहे बिना मोक्ष मार्ग तक पहुंचता है।[9] संगीत के संबंध में याज्ञवल्क्य की यह उक्ति द्रष्टव्य है-

*''वीणावादनतत्वज्ञः श्रुति जातिविशारदः।*
*तालज्ञष्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं प्रयच्छति''।।*

रामायण, महाभारत, हरिवंश और अन्य पुराणों, जैसे मार्कण्डेयपुराण, वायुपुराण, विष्णुपुराण आदि में भी संगीत का विस्तृत विवरण मिलता है। वायुपुराण में तो संगीत-ष्शास्त्र की आलोचना विशद् रूप में हुई है। रामायण के बालकाण्ड में भी संगीत का वर्णन आता हैं। जैसे-

*'गायन्ता, न त्यमानाश्च वादयन्तास्तु राघव।'*[10]

यहां नृत्य, गीत और वाद्य का उल्लेख हुआ है। नृत्य, गीत और वाद्य का सम्मिश्रण ही संगीत है। भरत के नाट्यशास्त्र में भी गीत, वाद्य और नृत्य का अलग अलग उल्लेख हुआ है। कई विद्वानों का अभिमत है कि संगीत शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम संगीत मकरंदकार नारद ने ही किया है। जीवन पथ के किसी भी मोड़ पर रूककर देखा जाए तो वहीं हमें संगीत मिलेगा। दुःख से, सुख से, रूदन से, हास से, योग से, वियोग से, मृत्यु से, जीवन से, सारांश यह है कि जीवन की प्रत्येक अवस्था से येन-केन-प्रकारेण संगीत की कड़ी अवश्य जुड़ी रहती है। युद्ध के मोर्चों पर उत्साह-वृद्धि के लिए वर्तमान युग में भी विश्व के प्रत्येक राष्ट्र के सैनिक विभिन्न प्रकारों के संगीत का ही प्रयोग करते हैं। अट्टहास करती हुई मृत्यु के उस वीभत्स वातावरण में सैनिकों के मस्तिष्क का संतुलन ठीक रखने एवं गगनभेदी तोपों के भयावने गर्जन में कर्तव्य की कसौटी पर खरे उतरने की शक्ति संगीत ही प्रदान करता है।

संगीत मानवता का पाठ पढ़ाता है। असभ्य को सभ्य और संकीर्ण हृदय को विश्व-बन्धुत्व का संदेश देता है। संगीत, समीर के शीतल झोंकों से हृदय-कलुषता, विकृत वासनाओं, संकीर्णता तथा तामसी एवं आसुरी भावनाओं का समूल उच्छेदन कर आत्मा को निश्छल तथा पवित्र बना देता है। अतः सच्चे संगीतज्ञ सदैव निर्मल हृदय और सांसारिक प्रपंचों से दूर होते हैं। शास्त्रें में संगीत के विषय में कहा गया है-

*ज्ञानं कोटि गुणं ध्यानं, कोटि गुणं स्त्रोतं।*
*स्त्रोत कोटि गुणं जपं, जपं कोटि गुणं ज्ञानं।।*[11]

अर्थात्, - ज्ञान, स्त्रोत, ध्यान और जप, इन सभी से बढ़कर गायन है, क्योंकि गायन से परे कुछ नहीं। संगीत की महानता स्वीकार करते हुए महान कवि एवं नाटककार शेक्सपीयर ने भी कहा है- 'The man who has no music in himself or is not moved by the conchord of sweet music in fit for treason, strate gems and spoils let no such man be trusted.[2]

अर्थात् जिस मनुष्य में गायन के प्रति रूचि नहीं, जो इसके मधुर स्वरों से मोहित नहीं होता, वह पतित, विश्वासघाती एवं आत्मद्रोही है और उसका हृदय अन्धकारमय रात्रि से भी अधिक भयंकर है। संगीत से आत्मा पवित्र हो जाता है। उसमें नैतिकता, दया, आदि गुणों का विकास होता है। महान दार्शनिक प्लेटो ने कहा है-''संगीत के माध्यम से आत्मा लय सीख जाती है। संगीत चरित्र बनाता है, उससे धर्म की प्रवृति आ जाती है। ऐसा व्यक्ति कभी अन्याय कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह स्वर-लहरी से बंधा रहता है।''[13]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि संगीत के द्वारा परमात्मा से संबंध स्थापित किया जा सकता है, बषर्ते कला का प्रयोजन पूर्ण आत्मानुभूति से हो। संगीत में असीम सामर्थ्य है। चित्तवृत्तियों का निरोध करके मन को पवित्रतम बनाने की भी उसमें अपार क्षमता है। तुलसीराम देबांगन ने कहा है- विद्वानों के मतों एवं प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर यह निश्चित होता है कि संगीत भावाभिव्यक्ति का सबल साधन है। परंतु स्वर या नाद में भावाभिव्यंजकता होते हुए भी इसका अर्थ स्पष्टतः समझ में नहीं आता। ऐसा

न होने का प्रधान कारण यह है कि स्वर हमारे दैनिक जीवन की भाषा नही है और इसलिए इसका अर्थ निश्चित नहीं है। नियमित उच्चारण के पश्चात् दो स्वरों के बीच के अंतराल भी जब नियमानुसार ध्वनि-सिद्धांत के अनुकूल होते हैं, तब ही स्वरों के अन्य रूप षड्ज, ऋषभ, गांधारादि उत्पन्न होते हैं और रंजक स्वर-समूहों के प्रयोग से, गीत, धुन एवं राग बनते हैं। इस विधि से भाव-व्यंजक स्वर-समूह संगीत नाम को सार्थक करते हैं।[14]

गायन (गीत), वाद्य और नृत्य तीनों का एकत्र समाहार संगीत है। साधारण तौर पर केवल गायन ही संगीत माना जाता है। परंतु, शास्त्रीय रूप में संगीत तीनों का परिचायक है। अब मैं तीनों परिचायक अंग का संक्षिप्त परिचय देना चाहूंगा।

गायन (गीत) : संगीत का प्रधान और प्रथम अंग गीत या गायन होता है। 'गीत' शब्द संस्कृत के 'गीथ' का रूपान्तरण है। 'गीथ' शब्द की उत्पति 'गाथा' से है। गाथा का अर्थ है - गुणानुवाद। प्राचीनकाल में साधक ईश्वर का गुणानुवाद गाथा के माध्यम से करते थे, जो संभवतः गद्य के अंतर्गत प्रवचन के रूप में होता होगा। संभवतः गाथा से ही 'गीथ' की स्थिति में आकर पद रचनाओं को अथवा वैदिक ऋचाओं को सस्वर गाने की परंपरा चली, जिसे हम आज गायन के रूप में जानते हैं।

साधारण भाषा में हम कह सकते हैं कि 'पद रचनाओं के सस्वर गाने की क्रिया गायन है। अर्थात् जब किसी पद को स्वर के साथ गाकर उपस्थापित किया जाए और जो सुनने में आकर्षक हो तो इस अंग को गायन अंग की संज्ञा दी जा सकती है। गायन के चार भेद माने गये हैं- साहित्य, स्वर, ताल और रस। गायन में आत्माभिव्यंजन रहता है और अर्थ शक्ति का विशिष्टता विद्यमान होता है। उत्तर भारत में प्रचलित विभिन्न गायन-षैलियों को हम 'गीत' के प्रकार के नाम से पुकारते हैं।

वाद्य (वादन) : ताल, वादन के अंतर्गत आता है। ताल संगीत में अपरिहार्य है, बिना ताल के संगीत प्राणहीन है। किसी भी संगीत में राग पक्ष के साथ-साथ ताल पक्ष भी समानरूपेण महत्वपूर्ण है। संगीत एक क्रिया प्रधान कला है। संगीत के तीन प्रकार में वादन का भी स्थान है। वादन में कुछ वाद्य स्वर-प्रधान हैं, जैसे-सितार, सारंगी, हारमोनियम और कुछ वाद्य लय-ताल प्रधान के अंतर्गत आते हैं, जैसे-तबला, पखावज, ढोलक, नगाड़ा आदि।

*'तालस्तल प्रतिष्ठायामिति धातोर्धत्रि स्मृतः।*
*गीतं वाद्यं तथा नृत्यं यतस्ताले प्रतिष्ठितम।।*

- शारंगदेव कृत संगीत रत्नाकर

अर्थात् ताल शब्द की उत्पति तल धातु से हुई है जिसका अर्थ प्रतिष्ठा धारण व स्थापना है। गायन, वादन और नर्तन ताल पर ही प्रतिष्ठित है। वादन में किसी वाद्ययंत्र का ध्वनि आता है। अर्थात् जब किसी वाद्ययंत्र पर आघात करने के पश्चात ध्वनि उत्पन्न हो तो वह वादन अंग के अंतर्गत आता है। वाद्य को नाद का उत्पन्नकर्ता माना गया है।

नृत्य : शरीर के विभिन्न अंगों के संचालन द्वारा मन के भावों को प्रकट करने को 'नृत्य' कहते हैं। ऐसा नृत्य की मुद्राओं में प्रकट किया जाना संभव है। इस अंग में आंगिक अभिनय द्वारा भाव प्रदर्शन होता है। नृत्य वाद्य के अनुकरण द्वारा प्रदर्शित होता है। अर्थात् नृत्य की प्रस्तुति गीत-वाद्य के आधार पर ही होता है। नियमानुसार सिर से पैर तक शरीर के विभिन्न अंगों का संचालन शास्त्रीय नृत्य कहलाता है।

नृत्य में पैर, नेत्र, भौं, गर्दन एवं छाती का मुख्य रूप से संचालन किया जाता है। पैरों का संचालन या पाद विच्छेप में पैरों की क्रियाएं एवं घुंघरू का उचित प्रयोग होता है। नेत्र और भौंह संचालन में सिद्धहस्त नर्तक इसके द्वारा केवल भाव ही नहीं वरन लय-ताल भी स्पष्ट कर देते हैं। गर्दन की संचालन सहजता एवं सौम्य भाव से हो, इसे नृत्य की जान माना जाता है। छाती का संचालन चूंकि अश्लीलता के घेरे में आ जाता है। अतः शास्त्रीय नृत्य में इसका कम ही प्रयोग होता है।

बिना भाव के नृत्य निरर्थक माना जाता है। भरत मुनि ने भावानुकूल शरीर की अवस्था को ही नृत्य की संज्ञा दी है।[15]

रामायण और महाभारत में उक्त काल के कई प्रकार के वाद्यों के नाम मिलते हैं। आज कल तो अनेक प्रकार के वाद्य प्रयोग किये जाते हैं। किसी वाद्य में तार द्वारा स्वर उत्पन्न होते हैं तो किसी में हवा द्वारा स्वर उत्पन्न होते हैं। कुछ वाद्य ऐसे भी

होते हैं, जिनमें किसी धातु से विभिन्न स्वर निकला करते हैं, किन्तु एक प्रकार का मुख्य वाद्य ऐसा भी है जिनमें केवल एक ही स्वर उत्पन्न होता रहता है, और लय-ताल दिखाने के काम आता है।

संगीत की ध्वनि लय तथा गति प्रकट करनेवाले उपकरण को वाद्य माना जाता है। वाद्यों की उत्पति के विषय में विचार करते समय संगीत की उत्पति के सिद्धांत पर विचार करना आवश्यक हो जाता है और संगीत की उत्पति के सिद्धांत को सृष्टि की उत्पति के सिद्धांत से भिन्न करके देखा जाना संभव नहीं है, क्योंकि इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। सृष्टि की उत्पति के संबंध में मुख्यतः दो सिद्धांत माने जाते हैं। भारतीय विचारधारा आस्तिक मत को प्रमुखता देती है, जिसका आधार वैदिक साहित्य है। वैदिक सिद्धांत के अनुसार सृष्टि की रचना परब्रह्म परमात्मा के इच्छानुसार होता है। ब्रह्मा के रूप में वही अपनी सृजन शक्ति से सृष्टि रचता, विष्णु होकर इसका संरक्षण एवं पोषण करता तथा शंकर (रूद्र) रूप होकर लय-प्रलय की लीला करके सृष्टि में संतुलन बनाता रहता है। ब्रह्मा ने सृष्टि रचना प्रारंभ की और मन के संकल्प से महर्षियों को प्रकट किया। सृष्टि के संचालन के लिए महर्षियों को संपूर्ण विद्याओं के मूल आधार वेद-वेदांगों के ज्ञान का उपदेश दिया जिसमें चार वेद, ऋग्, यजु, साम व अथर्व वेद तथा छः वेदांग - शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक, छन्द तथा ज्योतिष आते हैं। सामवेद भी अपौरूषेय है और संगीत की उत्पति सामवेद से माना जाता है। आचार्य मतंग के अनुसार सामवेद से स्वरों की उत्पति हुई तथा स्वरों से ग्राम बने।

*'सामवेदात् स्वरा जाताः स्वरेभ्योग्रामसंभवः'*[16]

(बृहद्देशी लोक-92)

वैदिक मतानुसार संगीत की उत्पति ब्रह्म के ओंकार प्रणव से हुई, यह ओंकार ही संगीत के सप्त स्वरों का मूल रूप था। अतः भारत का वैदिक मत संगीत को पंच भौतिक सृष्टि से प्राचीन माना है और इस मत को पुष्ट करने वाले साहित्य का विशाल भण्डार यहां उपलब्ध है। इस ओंकार को नाद ब्रह्म कहा गया है। इस ज्ञान को ब्रह्मा ने प्राप्त किया, फिर इसे शिव को दिया, शिव ने इसे सरस्वती को दिया। सरस्वती संगीत की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है।

संगीत की उत्पति का दूसरा मत विकासवादी विचारधारा का है। विकासवादी सिद्धांतों का निष्कर्ष यही है कि सृष्टि की रचना किसी ने की नहीं वरन् यह पंच भौतिक पदार्थों के योग-संयोग के फलस्वरूप स्वतः हुई। इन सभी मतों के अनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि संगीत की उत्पति का काल आधुनिक इतिहासज्ञों के अनुसार ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व और वैदिक गणना के अनुसार अरबों-करोड़ों वर्ष पूर्व निश्चित होता है।

यद्यपि हमारा उद्देश्य लोकवाद्यों का परिचय एवं विवरण प्रस्तुत करने का है। वाद्य को संगीत से अलग करके नहीं देखा जा सकता। संगीत वाद्यों की उत्पत्ति के संबंध में शास्त्रोक्त मतानुसार स्वरों के बाद नाट्योत्पति का उल्लेख आता है तथा नाट्यकला में गान-वाद्यों को अनिवार्य मानते हुए वाद्यों की उत्पति मानी जाती है। आचार्य दत्तिल के ग्रंथ 'दत्तिलम्' में उल्लेख है कि ब्रह्माजी द्वारा प्रदत्त गान वाद्य को नारद ने संसार में प्रचलित किया।

*'गान्धर्वनारदादिभ्यः प्रत्ययादौ स्वयंभुवा।*
*विधिवन्नारदेनाथ पृथिव्यामवतारितम्।।''*

(दत्तिलम)

पार्वती के अंग-प्रत्यंगों को देख कर शिव ने रूद्रवीणा का निर्माण किया तथा शंकर भगवान् द्वारा सनकादिक ऋषियों के उद्धार हेतु कई बार डमरू बजाने का उल्लेख मिलता है। अतः वैदिक मत वाद्यों की उत्पत्ति भी ब्रह्मा एवं शिव से होना मानता है। सर्वप्रथम वीणा, ततवाद्य तथा 'डमरू' - अवनद्ध वाद्य का उल्लेख मिलता है, जबकि विकासवादी मत से सर्वप्रथम 'घनवाद्यों' की उत्पति मानी जाती है।

## वाद्य वर्गीकरण

भारतीय संगीत में प्राचीन काल से ही चार प्रकार के वाद्यों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। तत्, सुषिर, अवनद्ध या वितत और घन वाद्यों के द्वारा लय विस्तार किया जाता है। परंतु तत व सुष्शर वाद्य गीत के आधारभूत होते हैं, इसलिए उनमें लय का अभाव नहीं होता। अवनद्ध व घन वाद्य गीत के आधारभूत नहीं होते, इसलिए उनमें राग का अभाव रहता है। ये सिर्फ एक स्वर पर ही बजते हैं। इन चारों प्रकार के वाद्यों के संबंध में कहा गया है-

*ततं वाधंतु देवानां गंधर्वाणां च शौषरिम्।*
*आनद्धं राक्षसानांतु किन्नराणां घनं विदुः।।*
*निजावतारे गोविन्दः सर्वमेवानयत क्षितौ।*

अर्थात् तत वाद्य देवताओं से, सुषिर वाद्य गंधर्वों से, अवनद्ध वाद्य राक्षसों से तथा घन वाद्य किन्नरों से संबंधित थे। जब श्री कृष्ण ने अवतार लिया तो वे इन चारों प्रकार के वाद्यों को पृथ्वी पर ले आए।[17]

वाद्यों के पृथ्वी पर प्रादुर्भाव के संबंध में एक अन्य स्रोत के अनुसार पूर्वकाल में पृथ्वी पर दस प्रकार के कल्पवृक्ष थे। इनमें से एक का नाम तूर्याग था। इसी कल्पवृक्ष ने मनुष्यों को चार प्रकार के वाद्य प्रदान किए।[18]

स्व. पंडित फीरोज फ्रामजी संगीत शास्त्री, पूना ने अपने 'भारतीय श्रुति-स्वर-राग-शास्त्र' ग्रन्थ में संगीत का नक्शा बड़े सुन्दर ढंग से दिया है, जो निम्नांकित है-[19]

संगीत

| | | |
|---|---|---|
| गायन | वादन | नर्तन |
| स्वर | | लय |
| तत् वाद्य | | वितत (अवनद्ध) |
| सुषिर वाद्य | | घन वाद्य |

संगीत में स्वर व ताल का महत्व बराबर है। यदि संगीत में स्वर शरीर है, तो ताल उसमें आत्मा के समान है। हाथ की तालियों, दो पत्थरों की परस्पर टक्कर से उत्पन्न ध्वनि तथा धातु युग के प्रारंभ से धातु के दो टुकड़ों के टकराने से उत्पन्न ध्वनि को सुनकर मानव ने 'घनवाद्यों का निर्माण किया, बाद में चर्मवाद्य बने, तत्पश्चात् सुषिर एवं तार वाद्य बने।

लोकसंगीत के वाद्यों की भी चार श्रेणियां मानी जाती है। भारतीय संगीत में प्राचीनकाल से ही चार प्रकार के वाद्यों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। लोकवाद्य लोकानुरंजन के सशक्त माध्यम हैं। कोई भी त्यौहार, उत्सव, अनुष्ठान और उमंग का अवसर हो, लोकवाद्यों की स्वर लहरियां धरती के अणु-अणु में व्याप्त हो सबरंग सबरस की वर्षा कर देता है। इन वाद्यों की शक्ति अनंत कोटि की होती है। इसलिए विभिन्न देवताओं ने इन्हें अपना आश्रय बनाया। इनके सहारे शक्ति का विपुल संचरण किया साथ ही सृष्टि के विकास का अलौकिक कौतुक किया।

लोक की मनीषा अपरम्पार और अपौरूषेय है। इस मनीषा ने अपनी आवश्यकता के अनुरूप लोकवाद्यों की संरचना कर सृष्टि के विधि-विधान को समवेत किया। लोकमंगल को सहिष्णु बनाया तथा ताल-लय की तपन-लपन से राग-रंग देने का सद् भागीरथी कार्य किया।

आदिकाल से मनुष्य को हर्ष उल्लास के साथ-साथ गीत के रूप में कुछ ध्वनि और नृत्य के ताल की आवश्यकता हुई होगी साथ ही मरे हुए पशुओं की खाल को मिट्टी के बर्तनों पर चढ़ाकर या थाली को लकड़ी से पीटकर बजाने की प्रथा प्रारंभ हुई होगी। संभवतः प्रारंभ के ताल वाद्यों की इसी प्रकार रचना हुई होगी।

कुमार गंधर्व के शब्दों में - वाद्यों के दो स्वरूप प्रारंभ से ही मिलते हैं।

1. एक तो मनुष्य की क्रियाएं की ध्वनियां ही वाद्य का स्वरूप धारण कर लेती है, जैसे-हाथ गाड़ी के चलने से उत्पन्न ध्वनि। इन क्रियाओं को हम सुविधा के लिए क्रिया-वाद्य नाम दे सकते हैं।
2. दूसरे किसी वस्तु को हम वाद्य के रूप में ही पाते हैं, जैसे-ढोलक, डमरू आदि इन वस्तुओं को हम वस्तु वाद्य का नाम दे सकते हैं।[20]

जीवन में वाद्यों का प्रमुख स्थान रहा है। पौराणिक गाथाओं में भी वाद्यों को किसी न किसी रूप में पाते हैं, शिवजी डमरू बजाते थे जो आज भी हमारे सामने लोकवाद्य के रूप में प्रसिद्ध है। आज भी डमरू का प्रयोग मिथिलांचल एवं नेपाल तथा उसके तराई प्रान्तों में लोकजीवन में मिलता है। यह प्रसिद्ध है कि रावण शिवजी की स्तुति के समय मृदंग बजाया करता था। यदि हम वाद्यों का आधार किंवदन्तियों पर करते हैं तो पाते हैं त्रिपुर नामक दैत्य का वध करने के पश्चात् भगवान शिव प्रसन्न होकर नाचने लगे तब नृत्यकला की सृष्टि के लिए

ब्रह्मा ने त्रिपुर के रक्त से मिट्टी सानकर ढोल प्रस्तुत किया एवं त्रिपुर के चमड़े से उसे मढ़ा। एक और मत है कि ताण्डव से 'ता' और लास्य से 'ला' लेकर ताल का निर्माण हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ऐसा प्रतीत होता है कि इन ताल वाद्यों का प्रादुर्भाव आदिम संस्कृति के साथ हुआ है। ढोलक, तबला, पखावज, खोल, चंग, ढोल, नक्कारा, खंजरी वाद्य चमड़े से मढ़कर विकसित हुआ। जंगल में कटे हुए बांसों में आंधी-तूफान से जब वायु संचरित हुई तो उससे जो भांति-भांति की ध्वनियां मुखरित हुई उनसे फूंक वाद्यों की रचना प्रारंभ हुई। यह भी अनुमान है कि आदिम लोगों ने सर्वप्रथम एक ही छेद को फूंककर सर्वप्रथम स्वर निकाला होगा और उसी मूल स्वर को मानकर गीत का सृजन किया होगा। इसी प्रथम वाद्य के पश्चात् बांसुरी, अलगोजे तथा अन्य कई प्रकार के सुषिर वाद्य विकसित हुए होंगे।

इसके पश्चात् तन्तु वाद्य का प्रादुर्भाव मृत जानवरों की खाल को डफ, ढोल के रूप में और उसकी आंतों का नाना प्रकार की रस्सियों के रूप में प्रयोग किया होगा। उन अंचियों के तनाव से जो तुनतुनाहट पैदा हुई होगी उसमें तन्तु वाद्य की कल्पना साकार तो है। अनुमान है कि वाद्यों में सबसे पहले 'एक तारा' रहा होगा। इस एकतारे के तार कुछ अंतर से दबाकर बजाने से विविध स्वरों की सृष्टि हुई होगी। उससे नाना प्रकार के तंतु वाद्यों का विकास हुआ। इन तन्तु वाद्यों से पहले चुटकाकर बजाने वाले वाद्य और उसके पश्चात् गज से बजने वाले वाद्यों का निर्माण हुआ होगा। उपरोक्त वर्णन से वाद्यों के बनने की प्रक्रिया साकार होती है।

लोकवाद्य के सामान्य अर्थ में वे सभी वाद्य लोकवाद्य माने जा सकते हैं जो जन साधारण द्वारा आमतौर से प्रयोग में लाये जाते हैं। ढोलक, मंजीरा, ताल, खंजरी, करताल, घुंघरू आदि ऐसे वाद्य है जिनका प्रयोग लोगों द्वारा नाच गान या भजन कीर्तन के आयोजनों में आमतौर पर किया जाता है। लेकिन वर्तमान में लोकवाद्यों की बात आते ही हमारा ध्यान आदिवासी, अनुसूचित जाति, जन-जाति एवं इस प्रदेश के आंचलिक क्षेत्रों में रहने वाले अन्य लोक कलाकारों के वाद्यों की ओर जाता है। इन कलाकारों के ये वाद्य शास्त्रीय संगीत के वाद्यों से कुछ भिन्नता रखते हुए अपने लौकिक स्वरूप में विशेष पहचान रखते हैं। इन लोक कलाकारों को ये वाद्य इनकी वंश परंपरा से विरासत में मिले हैं। जो आज भी अपनी बनावट एवं वादन शैली की मौलिकता को संजोये हुए हैं। मिथिला के कतिपय क्षेत्रों में जाकर जब मैंने बुजुर्ग से बुजुर्ग कलाकार से साक्षात्कार किया तो पता चला कि उनका खानदान ही पीढ़ी दर पीढ़ी से इन लोकवाद्यों को बजाता चला आ रहा है। वे वाद्यों को स्वयं बनाते भी आ रहे हैं।

मानव जाति ने अपने आनन्दमय जीवन के लिए जो संसाधन आविष्कृत किये उनमें प्रमुख रूप से संगीत, खासकर लोक संगीत है। लोकमानस से प्राकृत रूप में निःसृत लोकसंगीत, मानव जीवन को नित नवीन ऊर्जा से परिपोषित करता रहा है। लोक संगीत के लिए मनुष्य ने आनन्द-उत्सव के रूप में लोकवाद्यों का आविष्कार किया। कालांतर में यही लोकवाद्य सांस्कृतिक क्रियाकलापों के लिए वरदान साबित हुए।[21]

लोकरंजन के माध्यम स्वरूप ये लोकवाद्य सत्यतः हमारे जीवन के लिए एक आवश्यक उपादान के रूप में सिद्ध हो गए। मनोरंजन के साथ-साथ ये लोकवाद्य लोकमंगल के प्रतीक के रूप में पूजे जाने लगे। इसी क्रम में, लोकाचारों में, यथा-शादी - ब्याह, देव - पितर पूजनोत्सवों तक में इन्हें महत्वपूर्ण स्थान मिला। आज भी कुछ आचार व्यवहारों में वाद्यों के पूजनोपरांत ही उत्सवों की शुरूआत की परंपरा कायम है। हालांकि अब ये प्रतीक स्वरूप ही रह गए हैं। लोकवाद्यों का स्वरूप, उनके प्रयोग की विधियां, पूरे भारतवर्ष में प्रायः समान रहते हुए भी, क्षेत्र विशेष के रहन-सहन, आचार व्यवहार आदि का प्रभाव उनपर स्पष्टरूपेण परिलक्षित होता है। संगीत और वाद्यों पर उनकी क्षेत्रियता का प्रभाव स्पष्ट है।

डॉ. लालमणि मिश्र कृत 'भारतीय संगीत वाद्य' के अनुरूप सम्पूर्ण लोकवाद्यों को दो वर्गीकरण के अंतर्गत सुविधानुसार ले सकते हैं। पहला वर्ग उन वाद्यों का है जिन्हें हम स्वरोत्पत्ति के लिए बजाते हैं। दूसरा वर्ग वह है कि जिन्हें हम लय अथवा ताल के लिए बजाते हैं। स्वर के लिए बजाया जाने वाले वाद्यों में तत और सुषिर वाद्य है जिनकी संख्या और

भेद लोक संगीत में अधिक नहीं है। अवनद्ध तथा घन वाद्य के अंतर्गत लय और ताल के लिए बजने वाले वाद्य आते हैं। भारतीय लोक संगीत में इनकी संख्या इतनी अधिक है जिन्हें वर्गीकरण भेद में बांटना कठिन हो जाता है।[22]

''लोक संगीत की दो धाराएं हैं। एक धुन की तथा दूसरी उसके वाद्यों की। लोक संगीत में वाद्यों का महत्व शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा बहुत अधिक होता है। विशेष रूप से ताल-वाद्यों का, जिनके अंतर्गत घन तथा अवनद्ध वर्गो के वाद्य आते हैं। चाहे लोकगीत हो अथवा लोकनृत्य, वाद्यों की आवश्यकता दोनों के लिए समान होती है। लोकगीतों एवं लोकनृत्यों में प्राण डालनेवाले वाद्य ही होते हैं, जिनके बिना उक्त दोनों निष्प्राण प्रतीत होते हैं।''[23]

भारतीय लोक वाद्यों परे विभिन्न क्षेत्रों में बहुत सा कार्य हो चुका है। भारतीय सम्पूर्ण वाद्यों पर डॉ. लालमणि मिश्र जैसे व्यक्तित्व ने कार्य किया है। सुषिर वाद्यों, तंत्र वाद्यों और तबला, मृदंग जैसे अवनद्ध वाद्यों पर भी खोज पूर्ण कार्य किया है।

1. मिथिला में बजाये जाने वाले नियमित लोकवाद्य यंत्र और
2. अनियमित लोकवाद्य यंत्र जो मिथिला में आदिकाल से व्यवहार में रहने के बावजूद अनिबद्ध है।

मिथिला की लोकसंस्कृति में पारम्परिक हस्तकला लूरि-भास, लोकसंगीत राग-भास, नृत्य नाट्य नाच-गान और वाद्य वादन गाजा-बाजा की संज्ञा से अभिहित किया जाता रहा है। मिथिला की संगीत परंपरा अत्यंत प्राचीन है। अपितु भारतीय संगीत परम्परा में मिथिला में गाने की दो पद्धति का प्रचलन रहा है-पहला शास्त्रीय गायन पद्धति और दूसरा लोकसंगीत। मिथिला का यह दोनों ही गायन पद्धति एक दूसरे को प्रभावित करता है। इस रूप में यह एकाकार हो चुका है कि इसे समवेत् रूप में राग-भास की संज्ञा दी जाने लगी है। वस्तुतः मिथिला में राग अर्थात् शास्त्रीय संगीत एवं भास अर्थात् लोक संगीत के सम्मिश्रण से यहां गाने की जो एक नवीन परंपरा विकसित हुई, विद्वान लोग उसे ही मिथिला संगीत का अभिधान दिया है। सतरहवीं शताब्दी में अवत्तीर्ण प्रसिद्ध मैथिल संगीतज्ञ पं. लोचन झा ने अपने ग्रंथ रागतरंगिनी के तीसरे तरंग में मिथिला के संगीत पर विस्तार से चर्चा किया है।

मिथिला में कण्ठ गायन का जितना महत्व है, उससे थोड़ा भी कम वाद्य-वादन का महत्व नहीं है। वाद्ययंत्र मिथिला संगीत का प्रमुख अंग रहा है, इसलिए मिथिला के लोकजीवन में वाद्ययंत्र से संबंध अनेकषः वाग्धारा और कुछ शब्द प्रचलित है। जैसे-गाजा-बाजा, ढोल-ढाक, गान-बजान, ढोलिया-बजनियां, ढोल-पिपही, नचनियां-बजनियां, आजन-बाजन आदि। इसी प्रकार अनेक वाग्धारा का प्रचलन भी है, जैसे-पंचबजना बाजब, गड़ाक ढोल, फूटल ढोल, गरदनि में ढोल पड़ब, ढोलहो पिटायब, डिगडिगिया देब, ताल-मात्र देखायब, ताल करब, ताल-तलबा उठब, दूरक ढोल सोहाओन, सनकल ढोलिया टीक भेल ठाढ़, रहय बांस ने बाजय बांसुरी, सुर बम फूटि गेल रहि गेल कठरा आदि।

गांव-घर में अभी भी किसी व्यक्ति के कृपणता का उपहास करते हुए बच्चे लोगों द्वारा यह लोकोक्ति (फकड़ा) बोलते हुए सुना जा सकता है-

*''ढोल बाजय डम-डम पिपरक पात।*
*फलांबाबू भोज कयलनि एको कौर ने भात।।''*

वस्तुतः उपर्युक्त सहचर शब्दावली, वाग्धारा लोकोक्ति और फकड़ा मिथिला के लोकजीवन में वाद्ययंत्र के लोकप्रियता और प्रचलन का साक्षात् प्रमाण है। मैथिल स्मृतिकार याज्ञवल्क्य का यह कथन इस संदर्भ में अक्षरशः सत्य है जो श्रुति और शास्त्रीय प्रमाणक विशेषज्ञ, वीणावादन में पटु और ताल के ज्ञाता पुरूष स्वतः मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं। ''वस्तुतः गीत, वाद्य एवं नृत्य ये तीनों अंग के सम्मिश्रण से पूर्ण संगीत की रचना होती है।''

मिथिला में प्राचीन काल से ही अनेक वाद्य यंत्र का प्रचलन रहा है, जिसका प्रयोग राग और भास दोनों प्रकार के गायन पद्धति में होता रहा है। परंतु, इस प्रचलित वाद्य में किसे शास्त्रीय और किसे लोक वाद्य कहा जाए यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है। इस संदर्भ में नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत का यह कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है कि जो कुछ शास्त्र में निहित है वो सब लोकाचार से ही लिया गया है। इस तरह मिथिला क्षेत्र में श्रुति एवं प्रचलित समस्त वाद्ययंत्र को लोकवाद्य की संज्ञा देने के बदले

पारंपरिक वाद्य कहना ज्यादा युक्तिसंगत होगा। मिथिलांचल में प्रचलित कुछ वाद्य का प्राचीनतम सूची चौदहवीं शताब्दी में कवि शेखराचार्य ज्योतिश्रीवर ठाकुर प्रणीत आद्य मैथिली गद्य-ग्रंथ 'वर्णरत्नाकर' में प्राप्त होता है।

महाकवि विद्यापति ने स्वयं अपने वसंत रास वर्णन विषय के अनेक पद में तथा भाव भंगिमा के माध्यम से अभिव्यक्ति वाले नृत्य के लिए व्यवहृत होनेवाले अनुकूल वाद्ययंत्रों की चर्चा की है-

*बाजत द्रिम-द्रिम धौं द्रिम द्रिमिया।*
*नटति कलावति मातु श्याम संग।।*
*कर करताल प्रबन्धक ध्वनियां।*
*डिमडिम डम्फ डिमिक डिम मादल।।*
*रूनझुन मंजीर बोल।*

करताल, डम्फ, मादल, मंजीर, बीन, रवाब, मुरज, महति, कपिनास, स्वरमंडल आदि वाद्ययंत्रों का नाम उल्लखित है।[24]

18वीं सदी में रचित मनबोध के कृष्ण जन्म में युद्ध वाद्य के रूप में नगेड़ा का उल्लेख हुआ है। इसी सदी में नन्दीपति रचित कृष्ण-केलि माला कीर्तनिआ नाटक में कृष्ण जन्म के समय थारी, कठताल, पटह (ढोल) आदि लोकवाद्य वादन का उल्लेख प्राप्त होता है। वस्तुतः उपर्युक्त विवरण से यह स्वतः अनुमेय है जो मिथिला के लोकजीवन में वाद्य का कितना समृद्ध और पुरानी परम्परा रही है। डॉ. रामदेव झा ने अपने शोध परख आलेख में मिथिला में प्रचलित लोकवाद्यों में डम्फा, खुरदक (ढोल, पीपही, बसुली), खजुरी, करताल, चुटकुल, मजीरा, झालि, ओरिनी, एकतारा, सारंगी और हुडुक आदि का नाम सुझाया है। डॉ. झा की उक्त सूची अवश्य ही महत्वपूर्ण है। परंतु, इसे पूर्ण नहीं माना जा सकता है। क्योंकि मिथिला क्षेत्र में इन वाद्यों के अतिरिक्त भी बहुत सारे लोकवाद्य के प्रचलन की परंपरा है जिसमें वाद्य के उपवाद्य भी प्रचलित है।

## संदर्भ


1. मलंगिया डॉ. महेन्द्र, मैथिली लोकनाट्यक विस्तृत अध्ययन और विष्लेषण, नई दिल्ली, पृ. 19
2. नारायण डॉ. पुष्पम, भैरवी, अंक-4, वर्ष 2011, पृ. 44
3. नारायण डॉ. पुष्पम, भैरवी, अंक-4, वर्ष 2011, पृ. 44
4. नारायण डॉ. पुष्पम, भैरवी, अंक-4, वर्ष 2011, पृ. 44
5. श्रीवास्तव पूर्णिमा, लोकगीतों में समाज, पृ. 9-10
6. झा डॉ. चण्डेश्वर, मिथिलाक संगीत परंपरा, मैथिली अकादमी पटना, वर्ष 1963, पृ. 1
7. गर्ग डॉ. लक्ष्मीनारायण, संगीत निबंधावली, हाथरस, 1998, पृ. 114
8. चांदावत नरेन्द्र कुमार, संगीत, मई 2005, पृ. 49
9. झा डॉ. चण्डेश्वर, मिथिलाक संगीत परंपरा 1963, पृ. 16
10. गर्ग डॉ. लक्ष्मीनारायण, संगीत निबंधावली, हाथरस, 1998, पृ. 17
11. श्रीवास्तव प्रो. हरिश्चन्द्र, संगीत निबंध संग्रह, पृ. 97
12. श्रीवास्तव प्रो. हरिश्चन्द्र, संगीत निबंध संग्रह, पृ. 97
13. वर्मा डॉ. राजीव, संगीत पत्रिका, फरवरी 2005, हाथरस, पृ. 07
14. वर्मा डॉ. राजीव, संगीत पत्रिका, फरवरी 2005, हाथरस, पृ. 07
15. मिलन डॉ. राजेन्द्र व सरित सुशील, कथा कथक की, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 2002 ई. पृ. 73
16. बोराणा रमेश, राजस्थान के लोकवाद्य, प्रकाशक-राजस्थान संगीत नाटक अकादमी 2008, भूमिका, पृ. 06
17. कुमार आशोक, शोध प्रबंध, प्राक्कथन, वर्श 2010, पृ.1
18. कुमार अशोक, शोध प्रबंध, प्राक्कथन, वर्ष 2010, पृ. 1
19. गर्ग डॉ. लक्ष्मीनारायण, संगीत निबंधावली, हाथरस, 1998, पृ. 115
20. कुमारी डॉ. कौशल, भारतीय लोकवाद्य, साहित्य रत्नालय कानपुर, 2009, पृ. 38
21. दिवाकर डॉ. रामधारी सिंह, परिषद् पत्रिका (लोक संस्कृति अंक), जुलाई 1999, पृ. 102
22. कुमारी डॉ. कौशल, भारतीय लोकवाद्य, साहित्य रत्नालय कानपुर, 2009, पृ. 64
23. बोराणा रमेश, राजस्थान के लोकवाद्य, प्रकाशक-राजस्थान संगीत नाटक अकादमी 2008, भूमिका, पृ. 10
24. मिश्र डॉ. अजय, शोध प्रबंध, पृ. 102

# आधुनिककालीन समाज एवं संगीत : एक-दूसरे के पूरक

**चन्देश्वर प्रसाद कुशवाहा**

यह सर्वमान्य तथ्य है कि संगीत मानव भावनाओं की अभिव्यंजना का सशक्त एवं सुन्दरतम साधन है। यह निश्चय ही आत्मा की लयबद्ध, तालयुक्त, संवेदनशील व भावुकतापूर्ण वह मधुर वाणी है जो व्यक्ति विशेष के चेतन मन के मनोभावों को अभिव्यक्त करती है जिसका हमारा भारतीय संस्कृति से अटूट संबंध है। यदि यूं कहा जाए कि संगीत अपने आप में ही एक संस्कृति है तो इसमें कोई अतिश्योक्ति न होगी। संस्कृति से ही संपूर्ण जीवन प्रतिबिम्बित होता है। किसी भी देश अथवा समाज की संस्कृति का बोध उसकी कला व उसके साहित्य से होता है। साहित्य तथा कला का मनुष्य के व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन से संबंध है, क्योंकि कला के माध्यम से ही मनुष्य अपनी विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों और अपने मनोभावों की सुन्दर अभिव्यंजना कर सकने में समर्थ है और साहित्य के माध्यम से काल-विशेष की सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन किया जा सकता है।

समाज शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है - एक संकुचित अर्थ में और दूसरा व्यापक अर्थ में। संकुचित अर्थ में समाज का अर्थ एक देश, प्रांत, निश्चित क्षेत्र, संगठन, संघ व सभा तक ही सीमित रहता है। सभा शब्द का प्रयोग किसी विशेष समुदायों के सदस्यों के लिए किया जाता है, जैसे - हरिजन सभा, ब्राह्मण सभा। धर्म के क्षेत्र में भी समाज शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे-हिन्दू धर्म की दो शाखाएं हैं-आर्य समाज तथा ब्रह्मो समाज। विशिष्ट समाज के नाम से भी विशेष कार्य के लिए एकत्रित हुए लोगों का बोध होता है जैसे विष्णु नारायण भातखण्डे जी ने महाराष्ट्र प्रांत के एक नगर के नाम पर ''पूना गायन समाज'' नामक संस्था का निर्माण किया था।

व्यापक अर्थ में ''समाज'' शब्द के अंतर्गत समस्त विश्व समा सकता है। समाज शास्त्र के विद्वानों ने इसे व्यापक अर्थ में ही ग्रहण किया है। उनके द्वारा दी गई ''समाज'' शब्द की कुछ परिभाषाएं निम्नलिखित है-

समाज सामाजिक संबंधों का जाल है और वह सदैव परिवर्तित होता रहता है।[1]

समाज समान रूचि व विचार वाले व्यक्तियों का समुदाय है जो एक दूसरे की रूचियों व विचारों को भली भांति समझते हैं और उनका समादर करते हैं। अतः वे समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक साथ कार्य करने में समर्थ होते हैं।[2]

समाज व्यक्तियों का वह समूह है जो किन्हीं संबंधों अथवा व्यवहार के तरीकों द्वारा संगठित है और जो कि उन्हें उन दूसरे लोगों से अलग करता है जो इन संबंधों में शामिल नहीं होते अथवा व्यवहार में उनसे भिन्न है।[3]

समाज एक वृहत्तर संगठन है जिससे किसी व्यक्ति का संबंध होता है।[4]

उपर्युक्त परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि समाज से तात्पर्य व्यक्तियों के उस समूह से है जो किसी निश्चित देश में रहता हो तथा जिसकी अपनी निश्चित संस्कृति हो। ''समाज'' सदैव परिवर्तित होते रहने वाला व्यक्तियों के बीच में होनेवाली अंतर्क्रियाओं एवं पारस्परिक संबंधों का जाल है तथा मानवीय संबंधों का पूर्ण

शोध छात्र, विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि. वि., दरभंगा

ढांचा है जो वास्तविक या प्रतीकात्मक साधनों के माध्यम से कार्यरत रहता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के बाहर उसका कोई महत्व नहीं। समाज में रहकर ही व्यक्ति के विचारों का आदान-प्रदान तथा प्रसारण होता है। मनुष्य पर समाज के विभिन्न प्रभाव पड़ते हैं तथा समाज भी व्यक्ति द्वारा प्रभावित होता है। इस प्रकार व्यक्ति एवं समाज एक दूसरे को प्रभावित करते हुए परस्पर गहरा संबंध रखते हैं।

प्रत्येक समाज की मांग होती है कि उसके सदस्य समाज के नियमों, कानूनों, रीति-रिवाजों, परंपराओं, आदर्शों तथा सिद्धांतों के अनुसार चलें ताकि सामाजिक संगठन सशक्त बना रहे।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होता है तथा समाज के बिना वह पशु ही रहता है। समाज के माध्यम से ही व्यक्ति की सभ्यता एवं संस्कृति झलकती है तथा मानवीय सामाजिक संबंधों का अध्ययन भी समाज द्वारा ही संभव है। समान विचार, रूचि, आपसी सहयोग, भाई-चारा, पारस्परिक निर्भरता, मैत्री, सहानुभूति, समाजसेवा, आज्ञापालन, दया, प्रेम, भ्रातृ भाव जैसे गुण समाज में ही विकसित होते हैं। विभिन्न सभाओं तथा संस्थाओं का अस्तित्व, उद्देश्य तथा विकास का अध्ययन समाज के अंतर्गत आता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा संगीत उसका चिरसंगी है। संगीत से मनुष्य का घनिष्ठ संबंध होने के कारण संगीत कला समाज में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। समाज के बिना कला का कोई अस्तित्व नहीं होता। किसी भी समाज की कला उसके मनुष्यों की मानसिक प्रवृति से पनपती है। समाज की मानसिकता उसकी भौतिक स्थिति पर आधारित होती है। समाज की भौतिक स्थिति से हमारा तात्पर्य समाज के आंतरिक आर्थिक संबंधों तथा सभी वर्गों के व्यक्तियों के आपसी रिश्तों से है। समाज के आर्थिक ढांचे की प्रगतिशीलता के कारण ही कला भी निरंतर विकसित व परिवर्तित होती रहती है।

संगीत मानव की सहज प्रवृति है तथा विश्वव्यापी है। हमारे देश की भव्य संस्कृति में संगीत का विशेष महत्व है। संगीत के बिना कोई भी समाज उन्नति नहीं कर सकता। सृष्टि के आरंभ से ही संगीत का मानव समाज से अति निकटतम संबंध रहा है। संगीत प्रत्येक राष्ट्र तथा समाज के धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों की सफलता का सशक्त माध्यम रहा है।

संगीत का संबंध जितना मानव से है उतना ही समाज से भी है। कारण, व्यक्ति समाज की इकाई है। यदि मनुष्य संगीत का सच्चा साधक बन जाए तो समाज स्वयं ही उन्नत होता जाता है। कलाकार अपनी कला के सृजन से समाज में सभ्यता तथा संस्कृति का विकास करता हुआ मानव के सामाजिक जीवन को सफल बनाता है।

युगद्रष्टा होने के कारण मानव समाज की अन्तर्निहित भावनाओं को पहचानता हुआ उन्हें अपनी इच्छानुसार मोड़ लेता है। प्रत्येक युग की अपनी आवश्यकताएं एवं मांगें होती है। वही व्यक्ति जीवन में सफलता प्राप्त कर पाता है जो समय की मांगों की सम्यक् जानकारी रखता हो। प्राचीनता का मोह रखनेवाले व्यक्ति जन समाज का उत्थान नहीं कर पाते। समाज की समस्त भावनाओं तथा विचारों का प्रभाव संगीत पर पड़ता है।

विशिष्ट भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में उत्पन्न होने के कारण एक देश का संगीत दूसरे देश के संगीत के लिए अजनबी बन कर रह जाता है, क्योंकि भिन्न-भिन्न समाज की अपनी मौलिक परंपराएं तथा संस्कार होते हैं। संगीत द्वारा ही समाज के ये संस्कार अभिव्यक्त होते हैं।

संगीत समाज-व्यवस्था के चरित्र से जुड़ी वह कला है जो समस्त समाज के आंतरिक स्वरूप को एक ही प्रकार से प्रकट करती है। समाज की साम्प्रदायिक एकता का स्वरूप संगीत में पूर्ण रूप से परिलक्षित होता है।

धर्म के बिना समाज का कोई अस्तित्व नहीं होता तथा धर्म ही संगीत का जन्मदाता माना जाता है। संगीत द्वारा आध्यात्मिक विकास तथा समाज द्वारा सामाजिक प्राणी की बुद्धि का विकास होता है। संगीत की उन्नति ही समाज की उन्नति है। समाज के विकास के साथ-साथ संगीत का विकास भी होता रहता है, क्योंकि संगीत समाज का अभिन्न अंग ही नहीं अपितु उसके विकास का माध्यम भी

है। अतः स्पष्ट है कि संगीत और समाज का अटूट संबंध है।

मनुष्य का लक्ष्य या उत्स सुख की प्राप्ति करना है, सुख की ही श्री वृद्धि हेतु संगीत की निर्मित हुई ऐसा चिंतकों, साधकों, महर्षियों, ब्राह्मणों की अवधारणा है। सुख की वृद्धि एवं कामनाओं के लिए ही समाज भी बना, क्योंकि समाज से ही मनुष्य को बल मिलता है। समाज की शक्ति ही उसे अधिक सुख की प्राप्ति में सहायता पहुंचाते हैं। संगीत समाज के द्वारा पोषित एवं पल्लवित होता है। ''कला मनुष्य का कार्य है, एक शक्ति है।''[5] मनुष्य को अपनी शक्ति एवं कला का उपयोग समाज में ही करना होता है। मनुष्य समाज से जो कुछ भी लेता है उसे समाज को ही देता है। सभी कलाओं का स्रोत तथा कलाओं के माध्य का निर्णय भी मनुष्य की कल्पनाषील मस्तिष्क एवं सौन्दर्यानुभूति की उपज मानी गई है।

मनुष्य का मस्तिष्क और सौन्दर्यानुभूति स्वयं एक ओर तो अपनी सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है और साथ ही दूसरी ओर परिस्थितियों का कारण भी है। इस कारण सभी प्रकार के कलात्मक माध्यमों में समाज के पारस्परिक संघर्षों का प्रतिफलन होता है। ''समाज के पारस्परिक संबंध निरंतर विकसित होते रहते हैं बदलते रहते हैं।''[6] जिसके कारण कला एवं संगीत में विकास एवं परिवर्तन अपेक्षित है। किन्तु जिस प्रकार समाज के परिवर्तित संबंधों का अर्थ यह नहीं होता कि इन नये संबंधों का अतीत से सरोकार नहीं है। ठीक इसी प्रकार कलाओं के विभिन्न माध्यमों का भी एक सामाजिक क्रम चलता रहता है। अतीत की सामाजिक स्थिति में ही नवीन का जन्म छुपा हुआ है। प्रत्येक कला की भांति संगीत कला भी अपने माध्यम विशेष से शक्ति, परंपरा और मान्यताएं ग्रहण करती है। कोई भी कला हो या कला का कोई भी माध्यम उसका अपना ऐतिहासिक महत्व एवं आवश्यकता है। प्रत्येक कला का अपना सामाजिक औचित्य एवं इतिहास है। अर्थात् कलात्मक माध्यम समाज के विभिन्न स्थितियों के परिचायक हैं और दोनों एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं।

समाजशास्त्रीय एवं मनोविज्ञानियों का मानना है कि ''मनुष्य के लिए कला और सौन्दर्य-भावना प्रकृति प्रदत्त नहीं है। मनुष्य ने अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए प्रकृति से जो भी संघर्ष किया, उस सक्रिय संघर्ष के दौरान में जीवन की आवश्यकताओं के बीच ही कला का जन्म हुआ। उस समय उसकी सौन्दर्यानुभूति उसके जीवन की आवश्यकता थी - सौन्दर्य-भावना की क्षुधा का परिणाम नहीं थी।''[7]

कला के माध्यम का प्रथम स्वरूप सामाजिक अवस्था पर निर्भर करता है। समाज के विकास में एक समय ऐसा था, जब समान विश्वास एवं समान वृत्तियों वाले व्यक्तियों का समूह - आर्थिक, सामाजिक एवं मानसिक रूप से एक दूसरे पर निर्भर करता था। उनके लिए कला और संगीत की व्यंजना एवं जीवन के संघर्ष में अंतर नहीं था। समाज की विशिष्ट आर्थिक परिस्थितियां थीं। उत्पादन के साधनों पर संपूर्ण समाज का अधिकार था। ''व्यक्ति का स्वाधिकार कुछ नहीं था जो कुछ था वह समाज का था।'' इस सामाजिक विकास के दौर में संगीत और कला का माध्यम भी सामूहिक, सामाजिक और समाजनिष्ठ था।

कला के माध्यम का दूसरा स्वरूप मनुष्य के मानसिक विकास से संबंधित है। प्रत्येक सामाजिक मनुष्य को अपने सामाजिक वातावरण के बीच में बचपन, जवानी और बुढ़ापा निकालना पड़ता है। ये अवस्थाएं भी कला के माध्यम के निर्णय में महत्वपूर्ण तथ्य है।

कला के माध्यम का तीसरा स्वरूप भी समाज की विकसित अवस्था से संबंधित है। जिस वर्ग को अपनी मानसिक समृद्धि करने हेतु शिक्षा एवं चिंतन को विकसित करने की सुविधा मिलती है वह अपने मानस को विकसित करता है। जिस कारण सम्पन्न वर्ग के लोगों की कला का माध्यम बौद्धिक रूप से गंभीरता को प्राप्त कर लेता है। प्राचीन काल या आदिम काल में प्राचीन आदिम कला, जो सबके लिए समान थी, उसी कला के माध्यम से दो नवीन अंकुरों का प्रस्फुटन हो जाता है। एक में प्रतिभा को अभ्यास का सहारा मिलता है और दूसरी में प्रतिभा को सामाजिक औसत जीवन का सहारा मिलता है। इन दो धाराओं को ही आज के परिवेश में शास्त्रीय कला और लोक कला के नाम से जाना जाता है।

मूलतः कला का उपयोग केवल मनुष्य के समाज के लिए ही है। मनुष्य कला को समाज से सीखता है और उस कला में कुछ योग कर पुनः समाज को लौटा देता है। मनुष्य को कला कार्य करने की प्रेरणा भी उसके अपने सामाजिक जीवन की अनुभूतियों से ही प्राप्त होती है। कला का कार्य अपने समय की सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति करना है। मनुश्य द्वारा अभिव्यक्त कला का रूप इसकी अनुभूतियां ही होती है।

किसी भी समाज की कला उसकी मानसिकता से निर्धारित होती है। समाज की राजनैतिक व आर्थिक परिस्थितियां सदैव एक सी नहीं रहती। समाज की राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियां मानव अस्तित्व के व्यापक संघर्ष और मानवीय श्रम के परिणामस्वरूप बदलती रहती है और निरंतर नये युगों का निर्माण करती चलती है। समाज की इस प्रगतिशीलता के कारण कला भी स्थिर नहीं रह पाती। वह निरंतर विकसित और परिवर्तित होती रहती है। अतः समाज से अलग कला का कोई अस्तित्व नहीं होता।[8] भारत वर्ष की भी संपूर्ण कला विशेषकर संगीत-कला परिवर्तनशील रही है।

संगीत विशिष्ट सामाजिक और भौगोलिक परिस्थितियों की उपज है। यही कारण है कि पूर्वी देशों का संगीत पश्चिम के लिए तथा पश्चिमी देशों का संगीत पूर्वी दुनियां के लिए कौतूहल का विषय बना हुआ है। यहां तक की उत्तर भारतीय संगीत या हिन्दुस्तानी संगीत और दक्षिण भारतीय संगीत या कर्णाटकी संगीत एक दूसरे के लिए पराया बना हुआ है। इसका मुख्य कारण अलग-अलग समाजों की अपनी मौलिक परंपराओं और संस्कारों का होना है।

समाज की परिस्थितियों के अनुसार संगीत बदल जाता है जैसे वैदिक काल में संगीत का सर्वाधिक उपयोग ईश्वरोपासना के लिए किया जाता था किन्तु बाद में समाज की रूचि के अनुसार यह विलासिता एवं मनोरंजन का साधन बन गया।

संगीत से जुड़ा मनुष्य समाज में एक विशेष स्थान रखता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि संगीत मानव के साथ तब से जुड़ा या चला आ रहा है जब से मनुष्य सामाजिक रूप से संगठित भी होना नहीं सीखा था।

संगीत के अनेक चिंतकों ने आधुनिक भारतीय समाज को संगीत से जोड़ते हुए माना है कि बीसवीं शताब्दी भारतीय संगीत का संक्रमण काल रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी तक भारतीय संगीत राजदरबारों की सीमा एवं घरानों में कैद था। और प्रारंभ के कुछ वर्ष भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में सहयोग देने के कारण पल्लवित और पुष्पित नहीं हो पाए। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतवर्ष में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। देश के प्रत्येक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। प्रजातंत्र की स्थापना हुई, जिससे देश की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में भी बदलाव आए। इन परिवर्तित परिस्थितियों के बीच भारतीय संगीत का भी आधुनिकीकरण हुआ जिसके परिणाम स्वरूप शास्त्रीय संगीत ने एक नई करवटें लीं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना एवं राजनैतिक एकता स्थापित हुई। छोटी-छोटी रियासतों का विलीनीकरण हुआ और इनके स्थानों पर एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना हुई। मि. विम वैनडर मीर ने इस बात का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 1947 के बाद कुछ राजाओं ने अपनी स्वतंत्रता कायम रखने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे। स्वतंत्र अधिकार समाप्ति के उपरांत भी कुछ राजाओं ने संगीत क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया। जिसमें ग्वालियर के राजा सिंधिंया, बड़ौदा के महाराजा सियाजीराव, रामपुर के नवाब हामिद अली खां, बिहार के बेतिया के राजा, दरभंगा के राजा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

फलस्वरूप संगीत राजदरबारों के संकुचित दायरों से बाहर निकला और जन-साधारण से सीधा संपर्क एवं संबंध स्थापित किया। वह संपर्क जो प्राचीनकालीन गुरूधर, आश्रमों के बाद मंदिरों में आध्यात्मिक परंपरा पर कायम थी तथा ईश्वरीय साक्षात्कार का माध्यम थी कालांतर में राजघरानों और दरबारों में विलासिता और राज-राजवाड़ों के स्तुतिगान में पारंगत, नवाबों के भोग एवं आमलोगों द्वारा तिरस्कृत हो चारदिवारी में बंद थी, सीधे सहृदय रसज्ञ जन-मानस के बीच सुलभ हो गई। लोकतंत्र की स्थापना के साथ आकाशवाणी, दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकाओं जैसी चीजों के आवागमन से संगीत का प्रचार व प्रसार दूर-दूर तक हुआ, जिससे जनता में सीधे संगीत के प्रति जागृति आई। आकाशवाणी, दूरदर्शन के माध्यमों ने

सभी प्रकार के संगीत को एक जगह ला इकट्ठा किया और एक साथ सभी को सुनने की सुविधा प्रदान की। संगीत के इतिहास में यह एक क्रांतिकारी घटना थी। संचार के माध्यमों ने घरानों के बंधनों से निकलकर समाज में संगीत आमवर्गों में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय हुआ। फिल्म ने भी संगीत की लोकप्रियता में चार चांद लगा दिये। फिल्मी संगीत निर्देशक, गायक, तथा गीत-रचनाकार ने ऐसी कर्णप्रिय और लोक आस्था एवं संस्कृति से जुड़े धुन एवं बोल तैयार किये और लिखे कि संगीत उच्च से उच्च तथा निम्न से निम्न तबकों के जीवन सहचर्य का माध्यम बन गया। पत्र-पत्रिकाओं में संगीत लेख, सामग्री आदि प्रकाशित कर संगीत के सैद्धान्तिक पक्ष से जनता को अवगत कराया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारतीय चिंतन पद्धति एवं सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन भारतीय युग सामाजिक संक्रमण के दौर से गुजर रहा था। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन और क्रांति का शंखनाद हो चुका था। आजादी के साथ ही हमारे नेताओं, समाज-सुधारकों, जननायकों ने सामाजिक अंधविश्वास, कुरीतियों के विरूद्ध आवाज उठाई थी, जिसमें पर्दा प्रथा, अशिक्षा, बाल विवाह, सती प्रथा, मूर्ति-पूजा, जाति प्रथा जैसी कुरीतियों व मंत्र-तंत्र, जादू-टोने जैसे अंधविश्वासों की जड़ों को उखाड़ फेंकने के लिए कमर कस ली थी। संगीत कला का उपयोग भी इसी आंदोलन को सफल बनाने के लिए किया गया था। संगीत जन-आकर्षण एवं प्रचार-प्रसार के लिए सबसे सरल और सहज माध्यम माना गया है। मनुष्य की जन्मजात प्रवृति है कि वह आनंद की प्राप्ति के नये-नये तरीके निकालता है। भगवान द्वारा मनुष्य जाति को दिये गए सबसे प्रमुख वरदानों में संगीत सर्वप्रथम है। मनुष्य स्वभावगत तथा सामाजिक परिवेश एवं चिंतन के फलस्वरूप जन्म से मृत्यु-पर्यन्त सुख-दुख को संगीत की स्वरलहरियों में प्रवाहित कर लेता है। जिसके कारण देशभक्ति के गीतों से जन चेतना एवं स्वतंत्रता आंदोलन का आधारभूत स्तंभ निःसंदेह संगीत है।

स्वाधीनता के उपरांत भारतीय समाज में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया कि सामंतवाद का अंत हो गया, किन्तु उसकी जगह पूंजीवाद ने ली ली। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत नव-निर्मित पूंजीपति समाज भारतीय संगीत की ओर आकृष्ट हुआ।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक संगीत व नृत्य वेश्याओं व कोको की वस्तु समझी जाती थी। सभ्रान्त परिवार की महिलाएं संगीत नहीं सीखा करती थी यदि सीखी भी तो सिर्फ घर की चारदिवारी तक सिमट कर रह गयीं। कुलीन घराने की लड़कियों के बारे में संगीत शिक्षण की बात सोचना भी नैतिक अपराध की श्रेणी में आता था। इसका मुख्य कारण था कि उत्तर भारतीय संगीत की बंदिशों के साहित्य में मानवीय व्यवहार के विभिन्न भावों का प्रकट न होना आम बात थी, जिसमें श्रृंगार की और श्रृंगार रस की अधिकता दिखाई देती है। समाज में इस बात को पुष्ट किया गया कि यह कल्पनाएं हमारी हीन अभिरूचि को दर्शाती है क्योंकि भद्र समाज ने ही हमारे संगीत और संगीतज्ञों को बहिष्कृत किया।

फलस्वरूप संगीत आध्यात्मिक परंपरा से विलग हो मनोरंजन तथा विलासिता का साधन मात्र बन गया । परंतु धनाढ्य मध्यवर्गीय समाज के उदय के पश्चात् संगीत जो कि निम्न स्तरीय वस्तु समझी जाती थी उसे उच्च दृष्टि से पुनः देखा जाने लगा। संगीत की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने में आधुनिक भारत के दो महान संगीतविद् धर्मपरायन ब्राह्मण मनीषि चिंतक पं. श्री विष्णुनारायण भातखण्डे जी एवं पं. श्री विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने काफी योगदान दिया। यह इन्हीं दोनों संतों का परिणाम है कि संगीत की नई स्वरलिपि पद्धति एवं बंदिशों ने पुनः भारतीय शाश्वत परंपरा, प्राचीनकालीन संगीत-चिंतन की आध्यात्मिक पद्धति को फिर से आमजन में पहुंचाया।

संगीत की लोकप्रियता एवं संगीत के प्रति जनमानस का लगाव के फलस्वरूप संगीत के आश्रय दाताओं की संख्या बढ़ती गई क्योंकि यह धनाढ्य वर्ग संगीत को प्रोत्साहन देने में काफी रूचि रखने लगा। धीरे-धीरे संगीत को समाज में बहुत बढ़ावा भी मिला और संगीत उच्च स्थान पर काबिज हो गया, जिसके कारण संगीत-कला में निपुण होना एक अतिरिक्त ईश्वरीय प्रदत्त योग्यता समझी जाने लगी। मध्यवर्गीय तथा उच्चवर्गीय परिवार में संगीत-शिक्षण का प्रचार प्रसार हुआ।

भारतीय जनमानस के हृदय एवं स्वतंत्रा प्राप्ति के आंदोलन के प्रणेता पं. बाल गंगाधर तिलक जी

ने शिवाजी एवं गणेश उत्सव के माध्यम से जनमानस में संस्कृति एवं भारतीय सभ्यता के प्रति सम्मान व आदर की भावना जागृत करने का बीड़ा उठाया। इन महोत्सवों से लोगों को आकृष्ट करना सरल था क्योंकि इसका सबसे सरल माध्यम था, संगीतमय जलसा। संगीत व नाट्यकला माध्यम से लोगों में चेतना की अभिव्यक्ति इन जलसों में होती थी। कहने का तात्पर्य यही है कि उस समय संगीत को जन चेतना का साधन बनाया, जिससे लोगों का संगीत के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आया।

संगीत शिक्षा के क्षेत्र में भी स्वतंत्र भारत में अनेक कार्य हुए। राजा-महाराजाओं के प्रथम तथा घरानेदार उस्तादों की वंश-परंपरा के सीमित दायरों से निकल संगीत ने स्कूल कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में स्थान प्राप्त किया। शिक्षा के क्षेत्र में भी नवजागरण एवं संगीत की गरिमा को कायम रखने में वही दो महान उत्तर भारतीय ब्राह्मण विभूति पं. विष्णु नारायण भातखण्डे और पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी का ही योगदान है। उन्होंने संगीत की दुर्दशा को महसूस किया और कठोरतम परिश्रम से प्राप्त विद्या को समाज में प्रतिष्ठा दिलवाने हेतु अनेक संघर्ष किये।

इनके अथक परिश्रम के फलस्वरूप संगीत शिक्षा के क्षेत्र में बहुत उन्नति हुई। अनेक नवीन संगीत शालाओं का निर्माण हुआ। अध्ययन, चिंतन व मनन ने संगीत की घरानेदार और मध्यकालीन परंपरा के जकड़न को तोड़ने में सहायता पहुंचाई। श्री के. पी. मुखर्जी इस बात का समर्थन करते हुए कहते हैं कि ''स्वतंत्र भारत में हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत भी स्वतंत्र हुआ, या यूं कहें कि शास्त्री की जकड़नों से मुक्त होने का उसने प्रयास किया।'' लोगों ने संगीत प्रति एक उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया। पुराने या मध्यकालीन समय के कलाकार ईर्ष्यात्मक मनोवृति के कारण अपनी 'चीज' केवल अपनी संतानों को ही सिखाता था और अपनी कला को अपने तक ही सीमित रखता था किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में संगीत के समावेश और सामाजिक परिवेश में संगीत के उत्थान से संगीत कला का व्यापक रूप से प्रचार व प्रसार हुआ, जिससे कलाकारों की संकुचित मनोवृति में भी परिवर्तन आया।

संकुचित मनोवृति में परिवर्तन के फलस्वरूप संगीत की, समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के कारण और दिनोंदिन बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण देष के विभिन्न शहरों में संगीत-समारोहों, सभाओं, विचार गोष्ठियों और संगीत की प्रतियोगिताओं के आयोजन में वृद्धि हुई। नए-नए कलाकारों का अभ्युदय हुआ। श्रोताओं की संख्या में वृद्धि हुई। समाज में सांगीतिक कार्यक्रमों में जाना अब सुसंस्कृत होने का प्रमाण समझा जाने लगा। लोग अपने घरों की महिलाओं को संगीत की शिक्षा दिलवाना सम्मान की बात समझने लगे।

संगीत और काव्य को श्रव्य विधा मानी जाती है। श्रव्य कला-विधा होने के कारण संगीत से आकाशवाणी का बहुत ही निकट संबंध हो जाता है। संगीत के लिए रेडियो तथा दूरदर्शन वरदान सिद्ध हुए। उच्चकोटि के संगीतज्ञ भी रेडियो, टेपरिकार्डर इत्यादि की उपयोगिता स्वीकार किया। आकाशवाणी पर प्रसारण से पूर्व संगीत का एक विस्तृत दायरा नहीं था। आकाशवाणी पर प्रसारण से जहां सभी प्रकार का संगीत सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो गया, वहां संगीत साधकों के लिए भी यह कम महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं हुए।

पहले संगीत के लिए समाज शासक वर्ग नवाब, दरबार आदि सोया करते थे किन्तु कालान्तर में संगीत कलाकार ने मजबूत होकर अपनी कला को जीविका का साधन बना लिया। सरकार के द्वारा भी संगीत खास कर आध्यात्मिक चिंतन एवं सामगान पद्धति पर आधृत शैली को संरक्षण नहीं प्राप्त है। इस चिंतन शैली के लिए संगीत विद् तथा समाज को ही आगे आना होगा। पूंजीवादी युग में सामंती काल की संरक्षण व्यवस्था खत्म हो गई। आज रिकार्डस्, एल.पी. रेडियो, सीडी, दूरदर्शन, कैसेट्स और संगीत मंच प्रदर्शन आदि के कारण समाज में संगीत-श्रोता-समुदाय का विकास हुआ है। यही श्रोता समुदाय आधुनिक युग में संगीत का संरक्षक है।

पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत लोकप्रिय संगीत अर्थात् फिल्मी सुगम संगीत बाजार की वस्तु है, इसलिए आधुनिक समय में संगीत एक ओर बिकाऊ वस्तु है तो दूसरी ओर मानवीय मूल्यों का स्रोत शास्त्रीय संगीत भी है। इस प्रक्रिया में संगीत की दुनिया में व्यवसाय और संस्कृति का द्वन्द्व उत्पन्न होता है।

यद्यपि सामंती संरक्षण की तुलना में आधुनिक काल में राज्य और संगीत श्रोता समुदाय के संरक्षण में संगीत कलाकार अधिक स्वतंत्र है। लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था और आर्थिक प्रक्रिया से उसकी स्वतंत्रता प्रभावित होती है। एक ओर राजसत्ता का दवाब और दूसरी ओर बाजार के प्रभाव के कारण उसकी स्वतंत्रता सीमित हो जाती है। आधुनिक युग का गायक मध्यकालीन पूर्वजों से अधिक सामाजिक है।

आधुनिक भारतीय व्यवस्था में पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया का प्रभाव विभिन्न प्रकार के मानसिक उत्पादनों पर भी पड़ता है। कला और संगीत का उत्पादक भी उससे प्रभावित होता है। यहां उत्पादक के रूप में संगीत कलाकार भी आ जाते हैं। कलाकार भी एक प्रकार का श्रमिक बन जाता है।

मार्क्स ने पूंजीवादी समाज में उत्पादन की समग्र प्रक्रिया के भीतर कला के उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा -''एक ही प्रकार का श्रम लक्ष्य की भिन्नता के अनुसार कभी उत्पादक श्रम होता है और कभी अनुत्पादक श्रम।'' इस तथ्य को इस प्रकार समझा जा सकता है। - ''जब एक गायक स्वयं गाकर कुछ कमाता है तो उसका श्रम अनुत्पादक है लेकिन वही गायक जब किसी व्यवसायिक संस्था या व्यक्ति के निर्देश पर बाजार के लिए गाता है तब उत्पादक श्रमिक बन जाता है। गायक का श्रमिक बनना और गायन को बाजार की वस्तु बनाना सिर्फ जीविका के लिए है। आज के कलाकार और उसकी संगीत कला उसकी सामाजिक स्थिति पर निर्भर होती है। क्योंकि संगीत कलाकार की आर्थिक-सामाजिक स्थिति से उसकी मानसिकता के स्वरूप का गहरा संबंध होता है।

कलाकार की मानसिकता से उसकी कला प्रभावित होती है। सभी कला विधाओं में सिर्फ संगीत कला विधा ही है, जो पूर्णतः आध्यात्मिक अर्थात् दक्षिण पंथी कला-विधा है। एक भी कलाकार ऐसे नहीं है जो वामपंथ के विचारों को जीते हों और वे अच्छे संगीतकला विद् हों।

स्वाधीनता के उपरांत भारत में संगीत कलाकारों की स्थिति में परिवर्तन आया है। संगीत कलाकारों की आर्थिक स्थिति आज भी अच्छी नहीं है क्योंकि वे पूर्णरूप से अपने आप को बाजार पर नहीं परोस पा रहे हैं। एक सफल कलाकार के लिए वर्तमान राजाश्रय का एक बुरा पक्ष भी है जिसे नागार्जुन ने बताया है कि युग निर्माता संगीतकार जब आज के आराम-तलब और चापलूस अफसरों के दरम्यान जा पहुंचता है तो उस पर ''भई गति सॉफ छुछंदर केरि'' वाली कहावत लागू हो जाती है। धीरे-धीरे उसके अंदर का युग-कला-शिल्पी मर जाता है। फिर विमूढ़ और पतित हंस की चोंच का पहला शिकार सरस्वती की खुद वीणा ही होती है।

आधुनिक समाज में संगीत-श्रोता-समुदाय ही संगीत के कलाकारों का संरक्षक है। यही भारतीय समाज संगीत को वर्तमान में पराकाष्ठा पर ले गई है। भारतीय समाज में रह रहे आम जनों को संगीत की थोड़ी-बहुत शिक्षा अवश्य लेनी चाहिए, जिस कारण समाज भी अच्छे संगीत सुनना पसंद करेगी और संगीत के सच्चे साधकों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में सुधार होगा। संगीत कलाकारों को जीविका हेतु छोटी-मोटी नौकरी भी कर लेनी चाहिए ताकि सनातन संस्कृति की धरोहर ईश्वर प्रदत्त कला विद्या संगीत अपनी गरिमा को बचाकर इसमें श्रीवृद्धि कर सके।

## संदर्भः-


1. Society is a web of social relationships and it is always changing. The elements of social science, Maclvar and Page, Page No. 1
2. Society is a number of like minded individuals who know and enjoy their like-mindedness and are, therefore, able to work together for common ends. Principle of Sociology, Giddings, F.H., Page 6
3. Society is a collection of individuals united by certain relations, modes of behaviour mark them off from others who do not enter into these relations or who differ from them in behaviour (Studies in) sociology, Ginsberg, p. 40
4. A Society is the larger group to which any individual belongs, Sociology, Green, Arnold W, An introduction to sociology, Vidya Bhushan & Sachdeva, P. 49
5. शर्मा डॉ. सत्यवती, संगीत का समाजशास्त्र, पृ. 55
6. शर्मा डॉ. सत्यवती, संगीत का समाजशास्त्र, पृ. 55
7. शर्मा डॉ. सत्यवती, संगीत का समाजशास्त्र, पृ. 56
8. शर्मा डॉ. सत्यवती, संगीत का समाजशास्त्र, पृ. 57

# ''वैदिककालीन समाज एवं संगीत''

**डॉ. निधि शर्मा**

मनुष्य समाज की सबसे छोटी ईकाई है। मनुष्यों से ही समाज निर्मित होता है।[1] प्रागैतिहासिक युग से लेकर आज तक मानव समाज जिन-जिन परिवर्तनों से गुजरा है, उनके पीछे क्रमिक अभिव्यक्ति की कर्म-कथा छिपी नही है।[2] प्रत्येक मानव का एक समाज एवं सांस्कृतिक ताना-बाना होता है।[3] काल-क्रम के अनुसार सामाजिक स्थितियाँ बदलती रहती है। वैदिककालीन समाज सबसे अधिक परिशुद्ध, सत्त्वप्रधान तथा पवित्र कहा जा सकता है। क्योंकि वैदिककालीन संस्कृति संसार की आदि संस्कृति है।[4] वैदिक युग से अभिप्राय उस काल-खण्ड से है, जिसमें चार वेदों तथा उसके विविध अंगों का विस्तार हुआ है। प्राचीन आचार्यो के अनुसार ''वेद'' वांग्मय ईकाई है।[5] जिसके अन्तर्गत भेद के कारण ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व का अलग-अलग संहिता के रूप में निर्माण हुआ है।[6]

## वैदिकालीन समाज -

मानव मात्र के प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद में समाजवाद की सर्वप्रथम परिभाषा मिलती है।[7] ऋग्वेद के दशम् मण्डल के ''साम्मन् सूक्त'' में निहित मंत्रों में समाजवाद की समग्र अवधारणा का सम्यक्तया तथा निरूपण मिलता है।[8] यजुर्वेद में भी ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनमें समाज को लक्षणित किया गया है उदाहरणार्थ अकर्मण्यता द्वारा समाज में दुर्वृतियाँ उत्पन्न होती है। अतएव आलस्य एवं अकर्मण्यता का त्याग करके सबको अपने परिश्रम का ही भोग करना चाहिए।[9] किसी के धन का हरण नहीं करना चाहिए।[10] अथर्ववेद के अनुसार वही समाज उत्तम गुणों और कर्मो को उत्पन्न कर सकता है जो वर्ण चतुष्टय, बल चतुष्टय (पराक्रम, तेज, सहिष्णुता और शारीरिक बल) तथा गुण चतुष्टय, (वाक्, इन्द्रिय, श्री और धर्म) से युक्त हो।[11]वेद कहते हैं कि यदि समाज सुन्दर विचारों वाला होगा, तो सभी मनुष्यों में मंगल-भावना उत्पन्न होगी और उससे समाज की रक्षा भी होगी।[12] उन्नत समाज हेतु प्राणियों में चारित्रिक दृढ़ता का होना परमावश्यक होता है, अतः मानव का आचार, व्यवहार, शील-स्वभाव, संकल्प और कर्म शुद्ध और पवित्र होने चाहिए।[13]

मानव को मानव के प्रति प्रेम-पूर्वक व्यवहार करना चाहिए।[14] वेद यह भी कहते हैं कि जगत् कल्याण के लिए समाज को मधुर वाणी से युक्त होना चाहिए।[15]

वैदिककाल में वर्ण व्यवस्था थी, जिसके अनुसार चार वर्ण थे- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र।[16] यजुर्वेद[17] तथा अथर्ववेद[18] में भी ऐसी ही व्यवस्था क्रम प्राप्त होता है। आपस्तम्भ धर्मसूत्र में भी वर्णो के विषय में कहा गया है कि -

*''चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः''*[19]

श्रीमद्भागवतपुराण के अनुसार भी गुण और प्रकृति के अन्तर के अनुसार वर्णों के चार ही विभाग किए गए है।[20] भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवद्गीता में स्वयं कहा है कि गुणों और कर्मो को दृष्टिगत कर मेरे द्वारा चतुर्वर्णा-सृष्टि की गयी है। मैं ही इसका कर्ता तथा संहारक हूँ।[21] मनु महाराज[22] ने तथा ऋषि याज्ञवल्क्य[23] ने अपने-अपने स्मृति ग्रन्थों में उपर्युक्त विभाजन को ही स्वीकार किया है। वैदिककाल में ब्राह्मणों का स्थान सर्वश्रेष्ठ था उन्हें विराटपुरुष

असिसटेन्ट प्रोफेसर (गेस्ट फैक्लटी), संगीत विभाग, मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

के मुख से उत्पन्न माना गया है। तत्पश्चात् क्षत्रिय, वैश्य और अन्तिम स्थान शूद्रों का है।[24] ब्राह्मण शब्द का शाब्दिक अर्थ है- जो वेद तथा परमात्मा की सेवा में तल्लीन तथा गुणों से युक्त हो, वह ब्राह्मण कहलाता है।[25] वैदिककाल में ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों का भी निर्धारण किया गया था जिसके अनुसार अध्ययन, याजन, दान आदि ब्राह्मण के आवश्यक कर्म कहे गए हैं।[26] इन कर्त्तव्यों के साथ-साथ अध्यापन, याजन तथा दान ग्रहण करना ये भी ब्राह्मण के कर्म कहे गए है।[27] इस प्रकार अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान-प्रतिग्रहण ये छह कर्म ब्राह्मण के विषय में कहे गए हैं। विभिन्न ग्रन्थों में ब्राह्मण के इन्हीं कर्मों का वर्णन प्राप्त होता है।[28] स्मृति ग्रन्थों में भी ब्राह्मण के उपर्युक्त छह ही कर्मो को स्वीकारा गया है।[29] इन कर्मों से युक्त ब्राह्मण को ही अवध्य, अबन्ध्य, (बन्धन रहित) अदण्ड्य, (दण्ड रहित) अबहिष्कार्य (बहिष्कार से रहित) अपरिवाद्य (परिवाद से रहित) तथा अपरिहार्य कहा गया है।[30]

वैदिककालीन समाज की वर्णव्यवस्था में द्वितीय स्थान क्षत्रियों को प्राप्त था। ''क्षत्रिय'' शब्द का शाब्दिक अर्थ है- क्षत्रिय से उत्पन्न पुरुष, शक्तिसम्पन्न और शूरवीर।[31] वेदों के साथ-साथ श्रीमद्भागवद्पुराण में भी क्षत्रिय के गुणों और प्रकृति का विशद वर्णन प्राप्त होता है।[32] क्षत्रियों के अध्ययन, दान और यजन यें सामान्य कर्त्तव्य कहे गए है।[33] महर्षि गौतम ने कहा है कि प्राणियों की रक्षा करना राजा का परम कर्त्तव्य है।[34] क्षत्रियों के विषय में एक नियम यह भी था कि यदि कोई ब्राह्मण धनोपार्जन में असमर्थ हो तो राजा को उसका पालन पोषण करना चाहिए।[35] युद्ध में स्थिरता और अभिरूचि क्षत्रिय के मुख्य कर्त्तव्यों में से एक थी।[36] युद्ध में पराजित राजा की हर प्रकार की सम्पत्ति विजयी राजा की होती थी।[37] वासिष्ठ धर्मशास्त्र में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है कि राजा के तीन ही कर्म है- अध्ययन, यजन और दान।[38] श्रीमद्भगवद्गीता में भी क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्मो के विषय में उल्लेख किया गया है।[39]

वर्णव्यवस्था के इसी क्रम में तृतीय स्थान ''वैश्य'' का है। वैश्य शब्द का शाब्दिक अर्थ है- तृतीय वर्ण का पुरुष जाति, श्रेणी, वंश आदि।[40] ऋग्वेद[41] यर्जुवेद[42] और अथर्ववेद[43] में वैश्य की उत्पत्ति विराट पुरुष के ऊरूभाग से कही गयी है। श्रीमद्भगवद्पुराण में कहा गया है कि आस्तिक हो, दान-निष्ठा-अदम्भ-विप्र की सेवा और धन-संग्रह आदि गुणों से युक्त हो, वही वैश्य है।[44] मनुमहाराज ने भी लोक वृद्धि के लिए वैश्य की उत्पत्ति ब्रह्म के ऊरूभाग से कही है।[45] अध्ययन, यजन और दान इन कर्मो से अतिरिक्त कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और धनप्राप्ति ये वैश्य के कर्म कहे गए है।[46] आपस्तम्भ धर्मसूत्र में कहा गया है कि युद्ध के अतिरिक्त वैश्य के क्षत्रिय के समान ही कर्म हैं, केवल कृषि, पशुपालन और वाणिज्य ही अधिक कर्म है।[47] स्मृतिग्रन्थों[48] तथा श्रीमद्भगवद्गीता[49] में भी वैश्य के उपर्युक्त कर्मो का ही विवेचन प्राप्त होता है।

शूद्र को वैदिककालीन समाज में अन्तिम स्थान प्राप्त था। शूद्र शब्द का शाब्दिक अर्थ है- सेवक।[50] ऋग्वेद[51], यर्जुवेद[52] तथा अथर्ववेद में शूद्र की उत्पत्ति विराट् पुरुष के चरणों से मानी गयी है, जो संस्कार आदि कर्मो में उच्चवर्णो से भिन्न होते थे, उन्हें शूद्र कहा जाता था।[53] गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि शूद्र को उच्चवर्णो की सेवा करनी चाहिए।[54] वासिष्ठ धर्मशास्त्र में भी उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की श्रद्धा-पूर्वक सेवा करना शूद्र का परम कर्त्तव्य होता है।[55] आपस्तम्भ धर्मसूत्र[56], मनुस्मृति[57] याज्ञवल्क्यस्मृति[58] तथा श्रीमद्भगवद्गीता[59] में भी शूद्र के उपर्युक्त कर्मो का उल्लेख प्राप्त होता है।

इस प्रकार वैदिककालीन समाज चार वर्णो में विभक्त था। जिसमें चारों ही वर्णो के पृथक्-पृथक् कर्म निर्धारित थे।

वैदिककाल में सामाजिक परिप्रेक्ष्य में यदि संगीत को दृष्टिगत किया जाए तो कर्मो के आधार पर यह विद्या उच्चवर्णीय विद्या थी। इसमें शूद्रों को स्थान प्राप्त नहीं था। क्योंकि वैदिककाल में संगीत का प्रत्यक्ष सम्बन्ध वैदिक ऋचाओं से था। वैदिक ऋचाओं का गेयात्मक पाठ ही परवर्ती काल में विस्तार को प्राप्त हुआ। अतः वैदिककाल में संगीत का निम्नवत् वर्णन किया जा सकता है-

## वैदिककालीन संगीत -

गीत-वाद्य-नृत्य के सम्मिलित रूप को ''संगीत'' कहा गया है।[60] भरतमुनि के अनुसार ''गीत'' नाटक के प्रमुख अंगों में अनन्यतम है, वादन तथा नर्तन इसके दोनों अनुगामी है।[61] वैदिक सम्बन्ध के कारण संगीत भी अनादि विद्या है। नाट्यशास्त्र में वर्णन मिलता है कि ब्रह्मा जी ने ''नाट्य वेद'' की रचना की। जिसके लिए उन्होंने से पाठ्य सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस को लिया।[62] भगवान शिव और शक्ति को भी संगीत के जन्मदाता की उपाधि दी गयी है। क्योंकि उन्होंने ताण्डव और लास्य जैसे कठिन नृत्य विद्याओं का आविष्कार किया और संगीत को पूर्णता प्रदान की।[63] इस प्रकार देवताओं से उत्पन्न वैदिक संगीत अलौकिक व परिशुद्ध था। गायन के लिए वैदिक साहित्य में ''संगीत'' संज्ञा प्राप्त होती है।[64] गायन का प्रतिनिधित्व ''सामगायन'' करता है, यज्ञादि के अवसरों पर ''सामगायन'' आवश्यक माना जाता था, साम का छन्दोबद्ध गीतों से गायन होता था।[65] साम को विभिन्न स्तोभों द्वारा गाया जाता था, इन स्तोभों को वैदिक गायन का अलंकार कहा गया है।[66] ''सामगान'' में दैवी-शक्ति का निवास माना जाता था, तथा यह स्तुति रूप में होता था।[67] ऋग्वेद में साम की उत्पत्ति पुरुष प्रजापति से मानी गयी है।68 वैदिककाल में साम गायन पर्याप्त प्रचलित था। यज्ञ की समाप्ति भी साम गायन से ही होती थी। गायन के साथ तन्त्री, सुषिर, अवनद्ध वाद्यों का वादन भी होता था।[69] यज्ञों के अवसर पर उद्गाताओं (सामवेद का ऋत्विक) की पत्नियाँ गायन की संगति विभिन्न वीणाओं द्वारा करती थी।[70] वीणा वादन ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों के द्वारा यज्ञ के अवसर पर करना आवश्यक होता था। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय स्वरचित गायन भी यज्ञ अवसर पर गाते थे।[71] गायक एक विशेष अन्तराल-योजना (स्वरावली) द्वार स्वरचित गायन करता था।[72] जब ब्राह्मण गायक यज्ञकर्ता की प्रशस्ति का गायन करता था तब उसकी रचना की विषय-वस्तु एवं दानादि से सम्बन्धित होती थी।[73] इसके विपरीत जब क्षत्रिय गायक गान करता था तो उसकी रचना की विषय-वस्तु यज्ञकर्ता की युद्ध एवं विजय संबन्धि सफलताओं से सम्बन्धित होती थी।[74] वैदिककाल में भी गुरु-शिष्य परम्परा प्रचलित थी एवं आचार्य वीणा-वादन की समुचित शिक्षा दिया करते थे। वैदिककाल में गायन के अनेक स्वरूपों में गाथा और नाराशंसी महत्वपूर्ण थे। वैदिक यज्ञों के अवसर पर यज्ञ के अभिन्न अंग के रूप में इनका गायन किया जाता थ।[75] अश्वमेघ यज्ञ के दिन जब घोड़ा छोड़ा जाता था तब गाथा का गान किया जाता था और वे गान गायक के स्वरचित होते थे।[76] जहाँ राजाओं की प्रशस्ति के रूप में गाथाओं का गान किया जात था, वहीं देवताओं के सम्मान में भी गाथाओं का उल्लेख मिलता है।[77] उपनिषद् ग्रन्थों में भी ''सामगान'' की प्रचुर प्रशंसा मिलती है। छान्दोग्योपनिषद् में अग्नि से ऋक्, वायु से यजु तथा आदित्य से साम की उत्पत्ति मानी गयी है।[78] वैदिक परम्परा में ऋक् तथा साम का मंजुल सामंजस्य श्रेयकर माना गया है।[79] साम का आधार ''स्वर'' तथा स्वर का आधार ''प्राण'' हैं अतः यज्ञ की सफलता हेतु स्वर सम्पन्न गान परमावश्यक है।[80] स्वर का महत्त्व ''सामगान'' में स्वर्ण के तुल्य माना गया है।[81] ऋचाओं का सार ''साम'' में निहित कहा गया है तथा सामज का सार उद्गीत अथवा ओम् ध्वनि में है।[82] इसी ध्वनि से सम्यक्-गान से उत्पन्न होने वाला रसानन्द अन्य सभी रसों से श्रेष्ठ माना गया है।[83] छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार ''सामगान'' करते समय उसका प्रबन्ध छन्द, ऋषि तथा देवताओं का चिन्तन परमावश्यक है।[84]

सूत्र साहित्य में भी ''सामगान'' का महत्त्व पर्याप्त रूप से वर्णित किया गया है। बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार महाव्रत यज्ञ में ''रथन्तर'' नामक सामगान प्रारम्भ में ही होता था।[85] वर-वधु के गृह प्रवेश के समय पर ''वाम देव्य'' नामक साम के गायन का उल्लेख मिलता है।[86] इसी सामगान का गायन अभिनिष्क्रमण और नामकरण संस्कार में भी किया जाता था।[87] साम गायन के अनेक प्रकार भी इस काल में प्रचलित थे जैसे-वृहत, वैरूप, वैराज, शक्वर, रथन्तर, रैवत, व्याहति, भारूण्ड, गायत्र, देवव्रत, अग्नेव्रत, वामदेव्य, साम इत्यादि।[88]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वैदिककालीन समाज की स्वयं की एक व्यवस्था

थी, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के अलग-अलग कर्म थे। जिन्हें दृष्टिगत् करके ही प्रत्येक वर्ण अपने-अपने कार्य सम्पादित करता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय विशेष रूप से संगीत में अधिक भाग लिया करते थे। जिसका कारण वैश्यों की अत्यधिक व्यस्तता थी तथा शूद्र तो केवल सेवा कर्म ही किया करते थे। वैदिककाल में संगीत के विषय में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसकी उस समय दो धाराएँ प्रचलित थी प्रथम साम-संगीत एवं द्वितीय साम से भिन्न, जिसके अन्तर्गत गाथा, नाराशंसी, वामदेव्य आदि को रखा जा सकता है। साम गायन तो पूर्णतः धार्मिक प्रतीत होता है, और जिसका विषय केवल देव-स्तुति से सम्बन्धित ऋचाएँ थी जबकि साम से भिन्न संगीत की विषय वस्तु सामान्यतः प्रशस्तियाँ प्रतीत होती है। यह संगीत जनसाधारण के अधिक निकट प्रतीत होता है। अतः वैदिककालीन समाज और संगीत दोनों ही परस्पर पूरक कहे जा सकते है। क्योंकि इसका एक मुख्य कारण है, वेदों के प्रति जनमानस की अत्यधिक श्रद्धा एवं विश्वास। वैदिककालीन समाज भी समाज के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत करता है। वैदिककाल में समाज पूर्णतया व्यवस्थित था। सत्त्वता के कारण समाज में प्रेम-दया जैसे गुणों की प्रबलता थी। वैदिक आदर्शोन्मुखी जैसा समाज ही नियतरूपेण एक आदर्शवादी समाज की स्थापना कर सकता है। क्योंकि इसमें ''समष्टि'' रूप में सबके हित और उन्नति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। इसका प्रमाण है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल के ''साम्मनू'' सूक्त के द्वितीय मन्त्र में साथ-साथ मिलकर रहने की बात स्पष्ट रूप से कही गई है।[89] इस प्रकार वैदिककालीन समाज में संगीत अत्यधिक लोकप्रिय एवं पवित्र था।

## सन्दर्भ


1. उमेश जोशी, भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ. 60
2. गोपाल कृष्ण अग्रवाल, समाजशास्त्र, पृ0 80
3. वी. कुप्पुस्वामी, समाज मनोविज्ञान एक परिचय, पृ. 28
4. डॉ. पूनम मिश्रा, प्राचीन भारत में संगीत, पृ0 6
5. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
   विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।
   महाभारत, आदिपर्व, 1/25
6. डॉ. पूनम मिश्रा, प्राचीन भारत में संगीत, पृ0 6
7. ऋग्वेद - 10/53/6
8. ऋग्वेद - 10/191/1
9. यजु0 वे0 - 40/2
10. यजु0 वे - 40/1
11. अथर्व वे - 12/5/7-10
12. (क) यजु0 वे -34/1
    (ख) यजु0 वे -11/47
    (ग) यजु0 वे -30/3
13. यजु0 वे -6/13
14. यजु0 वे - 29/51
15. (क) अथर्व वे - 3/30/3
    (ख) यजु0 वे - 5/8
    (ग) यजु0 वे - 6/14
    (घ) यजु0 वे - 30/13
    (ङ) अथर्व वे - 1/34/2
16. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
    ऊरूतदस्य यद्वैष्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।
    - ऋ. वे. 10/90/12
17. यजुर्वेद- 31/10
18. अथर्ववेद- 19/6/6
19. आपस्तम्भ- धर्मसूत्र - 1/1/4
20. श्रीमद्भागवतपुराण - 11/17/10-13
21. श्रीमद्भगवद्गीता - 4/13
22. मनु स्मृति - 1/31
23. याज्ञवल्क्यस्मृति - 1/10
24. महाभारत, शान्तिपर्व - 122/4-5
25. आचार्य पाणिनि, अष्टाध्यायी - 4/2/59
26. ''द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्।'' गौतम-धर्मसूत्र - 2/1/1
27. गौतम-धर्मसूत्र, 2/1/2
28. (क) आपस्तम्भ धर्मसूत्र - 2/5/10/5
    (ख) वासिष्ठ धर्मषास्त्र - 2/13-14
29. (क) मनुस्मृति- 1/88
    (ख) याज्ञवल्क्यस्मृति - 1/118
30. अवध्यश्चाबन्ध्यश्चादण्ड्यश्चाबहिष्कार्यश्चा-परिवाद्यश्चापरिहार्यश्चेति। - गौतमधर्मसूत्र - 1/8/13
31. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ 315

32. तेजो बलं घृतिः शौर्य तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रक तयस्त्विमाः।।
श्रीमद्भागवतपुराण - 11/17/17
33. ''द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्।'' गौतम धर्मसूत्र - 2/1/1
34. गौतम धर्मसूत्र - 2/1/7
35. गौतम धर्मसूत्र - 2/1/10
36. गौतम धर्मसूत्र - 2/1/16
37. गौतम धर्मसूत्र - 2/1/41
38. वासिष्ठ धर्मषास्त्र - 2/15-16
39. श्रीमद्भगवद्गीता - 18/43
40. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ 982
41. ऋग्वेद - 10/90/12
42. यजुर्वेद- 31/10
43. अथर्ववेद- 19/6/6
44. श्रीमद्भागवतपुराण
45. मनुस्मृति - 1/31
46. गौतम धर्मसूत्र - 2/1/50
47. आपस्तम्भ धर्मसूत्र - 2/5/8
48. (क) मनुस्मृति- 1/90
(ख) याज्ञवल्क्यस्मृति - 1/119
49. श्रीमद्भगवद्गीता - 18/43
50. अष्टाध्यायी (उणादि प्रकरण) - 2/19
51. ऋग्वेद - 10/90/12
52. यजुर्वेद- 31/10
53. अथर्ववेद- 19/6/6
54. गौतम धर्मसूत्र - 2/1/51, 57
55. वासिष्ठ धर्मशास्त्र - 2/20
56. आपस्तम्भ धर्मसूत्र - 1/1/7
57. मनुस्मृति - 1/91
58. याज्ञवल्क्यस्मृति - 1/120
59. श्रीमद्भगवद्गीता - 18/43
60. संगीतरत्नाकर, अध्याय-1, पृ 21
61. नाट्यशास्त्र - अ -4, पृ 260-65
62. नाट्यशास्त्र, 1/150, 32/436, 32/436
63. नाट्यशास्त्र, 1/14, 4/16, 4/17, 4/266
64. (क) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण - 1/16/9-10
(ख) छान्दोग्योपनिषद् - 8/2/8
65. ऋग्वेद - 10/43/1-2
66. जैमिनीय ब्राह्मण - 402
67. (क) अथर्ववेद संहिता - 15/68/11, 9/10/2, 10/6/20
(ख) शतपथ ब्राह्मण - 14/3/1, 10-12
68. (क) ऋग्वेद, 10/90/91
(ख) ऋग्वेद, 9/97/8
69. ऋग्वेद, 9/97/8
70. पंचविशब्राह्मण- 5/6/8
71. शतपथब्राह्मण-13/1/5/1
72. शतपथब्राह्मण-13/4/2/8-11-14
73. शतपथब्राह्मण-14/4/3/3
74. शतपथब्राह्मण - 13/4/3/5
75. (क) शतपथब्राह्मण - 13/2/2/1
(ख) वाजसनेयी संहिता-कण्डिका-22
76. शतपथब्राह्मण - 13/4/3/5, 14/4/3/3, 13/4/2/8-11-14
77. अथर्ववेद- 20/128, 12/16
78. छान्दोग्योपनिषद् - 4/17/2
79. बृ उ - 3/22
80. (क) छा उ - 8/4
(ख) बृ उ - 3/25
81. छान्दोग्योपनिषद् - 3/36
82. बृ उ - 3/23
83. तैत्ति उ - 7
84. छान्दोग्योपनिषद् - 1/10/9-11
85. (क) बौ श्रौ सू - 16-20
(ख) आप श्रौ सू - 21-27
(ग) शांख श्रौ सू - 17-1
86. गोभिल ग्रह्यसूत्र - 2/4/4
87. गोभिल ग्रह्यसूत्र - 2/8/5-17-18
88. (क) गोभिल गृ सू - 2/8/5-33
(ख) वा ध सू - 3/19, 28/12-13-14-15
89. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।। - ऋग्वेद-10/191/2

# तबला वादन के क्षेत्र में 'बंदिश' की उपयोगिता एवं महत्व

**डॉ. दीपक त्रिपाठी**

तबला वादन, आज भारतीय संगीत में एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस वाद्य के कला साधकों ने आज जिस तरह की उच्चकोटि की विचारधारा का इसमें प्रस्फुटन किया है कि यह प्रतिदिन नित नवीन संकल्पना को प्रादुर्भूत कर रहा है, तथा उच्चस्तरीय शोधकार्यों से आज इस क्षेत्र में तमाम कार्यशालायें संपादित की जा रही हैं। प्रस्तुतिकरण के साथ-साथ विद्वान कलाकार अब तबले की बारीकियों की भी चर्चा करते हैं। तबले के रियाज पक्ष, रचनात्मक पक्ष, संरचनात्मक पक्ष या तबले पर बजाये जाने वाले साहित्य के गूढ़ रहस्यों का भी उद्घाटन होने लगा है। इस लेख में हम तबले पर बजायी जाने वाली बंदिशों के विषय में चर्चा करेंगे।

यह सत्य है कि 'कला व्यक्तिनिष्ठ मानी जाती है (Art is subjective) और शास्त्र वस्तुनिष्ठ माना जाता है। (Science is objective)। संगीत एक प्रयोगशील कला है। इसलिए तबला वादन (जो संगीत का एक अंग है) का प्रस्तुतिकरण भी व्यक्तिनिष्ठ होना आवश्यक है।[1] यही व्यक्तिनिष्ठता तबला वादन के क्षेत्र को विस्तार देने में इतनी सफल रही है। क्योंकि मानव बुद्धि सम्पन्न प्राणी है यह एक और एक = दो बनाता है तो एक और एक + एक = ग्यारह भी बनाने की सृजनात्मक क्षमता रखता है।

डॉ. प्रवीण उद्धव अपनी पुस्तक तबला साहित्य के प्राक्कथन में लिखते हैं कि किसी भी वाद्य से नादोत्पत्ति करना ही उस वाद्य का वादन करना है। वादन क्रिया के लिए उस वाद्य की भाषा के मूलवर्णों के आघात स्थान और आवश्यक हाथ एवं अंगुली संचालन की क्रिया जानना आवश्यक है।[2] क्योंकि इसकी भाषा का अविष्कार आघात स्वरूप हुआ है, इसके बोल बजाने के तरीके को निकास से सम्बोधित करते है। ध्वनि साम्य के आधार पर बोल के निकास से ताल की भाषाओं का निर्माण हुआ है। प्रतिभा सम्पन्न कलाकारों/रचनाकारों ने इस भाषा से सुन्दर तबला-काव्य का स्वरूप तैयार किया। जो प्रायः अन्य ताल वाद्यों में नहीं दिखा पड़ता है। इसी वजह से इसकी महत्ता है। तबला वादन में जो बोला जाता है या बजाया जाता है वह शब्दात्मक भाषा है उसमें अर्थ न होते हुए भी वह काव्य का स्वरूप लगता है। भाषा के दो काम होते हैं, एक तो भाव व्यक्त करना जो हमें तबले के धा धा तिट से मालूम नहीं पड़ेगा, तो भी वह भाषा है क्योंकि ध्वनियों में से भाषा का निर्माण होता है और वह भाषा खाली-भरी से समृद्ध हो जाती है। किन्तु भावों को स्पष्टता से व्यक्त करने के लिए बोलों का वाक्यांश, तथा खाली-भरी का तालमेल होना आवश्यक है। तबले से निकलने वाली ध्वनि को दृष्टिगत रखते हुए हमारे विद्वान कलाकारों द्वारा ठेके और बंदिशों की रचना इतने सुन्दर ढंग से की है कि तबला सर्वोच्च स्थान पर आ गया।

तबला वाद्य पर बजाया जाने वाला साहित्य (Matter) बंदिश शब्द से ही सम्बोधित किया जाता है चाहे विस्तारशील हो या अविस्तारशील उसे रचना या बंदिश नाम से ही जाना जाता है। बंदिश के ऐतिहासिक विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि जाति एवं प्रबन्ध के मध्य काल को 'अन्धकार युग' कहते हैं। जाति के क्रमवत् आगे बढ़ने पर संगीत कालक्रम

असि. प्रोफेसर, संगीत विभाग, साहू जैन कॉलेज, नजीबाबाद

की स्पष्ट कड़ी में प्रबन्ध दृष्टिगत है। प्रबन्ध का तात्पर्य नियमबद्ध रचना से है जो बंदिश शब्द का ही पर्याय है। जिनके अध्ययन से ज्ञात होता कि ''भारतीय संगीत में काव्य कभी उपेक्षित नहीं रहा है। यहाँ तक कि छह अवयवों में पाँच, चार, तीन अथवा दो अंगों वाली रचना को 'सरगम गीत अथवा स्वरमालिका के रूप में ले सकते हैं जिसमें केवल स्वर एवं ताल रहते हैं। प्रबन्ध के चार धातुओं अर्थात् खण्डों का स्थान जो आगे चलकर ध्रुपद शैली के स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग में बदल गया।[3] यह प्रकृति प्रदत्त मानव स्वभाव है कि समय के साथ-साथ जैसे मानवीय क्रियाकलापों में परिवर्तन होता है वैसे ही धीरे-धीरे कलाओं में भी मूलभूत परिवर्तन होते हैं। रचनात्मक स्तर से लेकर उनके प्रस्तुतिकरण तक में ये सारे बदलाव देखे जा सकते है। रचना में प्रसंग के अनुसार अंगों को घटाया बढ़ाया जा सकता है। प्रबन्धों के दो से लेकर आठ पदों में प्रयोग को आधुनिक रचनाओं के साथ यह संभव तोला जा सकता है। द्विपदी, त्रिपदी, चतुष्पदी, पंचपदी, षट्पदी, सप्तपदी, अष्टपदी इत्यादि प्रबन्ध अथवा गीत आधुनिक सुगम संगीत के अन्तर्गत स्तुतियों एवं अन्य रचनाओं के साथ मेल खाते हैं। ऐसे बहुताधिक पदों वाली रचनाओं की सम्भावना नृत्य अथवा नृत्य नाटिकाओं में अधिक रहती है।

गायन के अन्तर्गत जो भी विधाएँ सम्मिलित हैं यथा- ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी उन सब में प्रयुक्त होने वाली रचनाओं को 'बंदिश' से संबोधित किया जाता है। ध्रुपद, धमार में विभिन्न वर्ण्य विषम आधारित बंदिश प्राप्त होती है। राग में प्रयुक्त होने वाले स्वरों में काव्य तथा ताल में बंधी रचना ख्याल कहलाती है। ''ख्याल की बंदिश एक ऐसा रेखाचित्र है, जिसे ध्यान में रख और गाकर ही कलाकर अपनी कल्पना, विचार और प्रतिभानुसार उसमें कई तरह के रंग भरता है।''[4] विद्वानों के अनुसार ख्याल की बंदिश के संघटक है- स्थायी, अन्तरा, आलाप और तान। वैदिक कालीन मार्ग संगीत और उसके साथ प्रवाहित देशी संगीत के संकट से राग संगीत की निर्मिति हुई।''[5] जाति गायन से राग गायन परवर्ती काल में प्रबन्ध के अनुशासन में समाविष्ट हो गया।

राग के विराट रूप को किसी एक माध्यम से पकड़ना असम्भव है। तब भी राग अथवा संगीत प्रकार बंदिश के माध्यम से बीज रूप में संरक्षित रहे है। ''150-200 साल पुरानी सदारंग, अदारंग, मनरंग आदि वाग्गेयकारों की बंदिशें आजभी गायी जाती है, सिखायी जाती है। प्रिंटिग और रिकॉर्डिंग जैसी सुविधाओं के अभाव के रागों के चलन, मुख्य अंग आदि का बीज रूप में संरक्षण करना बंदिश के माध्यम से ही सम्भव हुआ। संगीत की मौखिक परम्परा के कारण ये बंदिशें अजरामर हो गई। कंठ संगीत की बंदिशों के रचनात्मक संघटक है राग, ताल एवं पद्य।

भारतीय कंठ संगीत का अविभाज्य घटक भाषा है। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की पारम्परिक एवं गैर-पारम्परिक बंदिशें मुख्यतः हिन्दी अथवा उसकी बोली भाषा में ही रची गयी है। 'ब्रज' हिन्दी की मानक नहीं अपितु बोली भाषा है जिसका क्षेत्र आगरा, मथुरा एवं उनके निकटवतल्ल परिक्षेत्र में बोली जाती है। रागदारी संगीत की बंदिशों की भाषा हिन्दी से भिन्न है। यह बोली हिन्दी है जो लोक प्रचलित वाद्यों है जो खड़ी हिन्दी बोली का अपभ्रंश रूप है। उदाहरण- ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, बुंदेली, छत्तीसगढ़ी आदि। इन भाषाओं में सहजता, सौम्यता, मृदुता तथा आत्मीयता का पुट होता है।

सांगीतिक अभिव्यक्ति में बोली हिन्दी सर्वाधिक उपर्युक्त है, क्योंकि इसमें कठोर व्यंजनों और संयुक्ताक्षरों का अभाव है। उदाहरणार्थ- प्रिय 'शब्द' में 'प्र' (प् $ र) संयुक्ताक्षर होने से वह प्रवाही नहीं है किन्तु बोली हिन्दी में 'प्रिय' के समानार्थ वैकल्पिक शब्द है पिउ, पी, पिय, पिया, पियरवा आदि। कुछ विद्वान के मतानुसार, 'शास्त्रीय संगीत की बंदिशों में शब्द केवल स्वरों के वाहक के रूप में आते हैं। उनमें रागबद्ध स्वर रचना मुख्य घटक और शब्दार्थ गौण या आनुषंगिक घटक है, फिर भी बंदिश को आकर्षक बनाने के लिए शब्दों में आने वाले स्वरों (अ, आ आदि) और व्यंजनो (क, ख आदि) की उच्चारण क्षमता अच्छी होनी आवश्यक है। किस स्वर पर विश्रान्ति, आन्दोलन अथवा जोर का या हल्का आघात है। उसी के अनुसार स्वर-व्यंजनों की योजना होती है।''[6]

'बंदिश' शब्द की संकल्पना संगीत की निर्मिति, अध्ययन-अध्यापन, आस्वादन तथा प्रस्तुतिकरण आदि सभी व्यावहारिक बिन्दुओं से जुड़ी हुई केवल कंठ संगीत ही नहीं अपितु वाद्य संगीत पर भी इसका प्रभाव दृष्टित है। वाद्य संगीत में बजायी जाने वाली 'मसीत खानी गते' विलम्ब लय की तथा 'रजाखानी गतें' द्रुत लय की बंदिशें होती है। 'बंदिशे' तबला वाद्य को सर्वोच्च स्थापित करने में सहायक सिद्ध हुई है। तबला वादन में बंदिशों के सर्वाधिक महत्व को इस प्रकार भी देखा जा सकता है।

घरानों की परिचायक- तबला वाद्य के वर्तमान 6 घराने हैं, सभी घराने तबले के दस वर्णों से ही बने हैं किन्तु फिर भी सभी अपनी विशिष्टता रखते हैं। उसके मूल में बंदिशों की प्रमुख भूमिका है। हर घराने में ऐसे सिद्ध कलाकार व रचनाकार हुए जिन्होंने तबले के वर्णों से ऐसी बंदिशों का निर्माण किया जो उस घराने की पहचान गयी है।

*धातेटे धतेटे धाधातेटे धागे तिना गिना*

यह बंदिश तबले पर बजते ही दिल्ली घराने का परिचय होती है। ये अलग बात है कि अन्य घराने के कलाकार उसे अपनी काल्पनिक सोच के आधार पर किसी और निकास से भी बजाये। ये तो संगीत है इसको सीमाओं में नहीं बाँधा जाा सकता है।

*धीग धीना तिरकिट धीना*

उपर्युक्त बाँट का सुरम्य वादन तुरन्त ही बनारस घराने के रस का परिचय देने लगता है। ऐसी रचनाएँ विद्वानों की अमर कृतियाँ हैं जो घरानों को प्रतिबिम्बत करने का कार्य करती है।

इसी प्रकर विस्तारशील बंदिशों के साथ-साथ अविस्तारशील रचनाओं के भी अक्षय भण्डार इन घरानों में भरे पड़े हैं जो स्वतः अपने-अपने घरानों की गौरव गाथा गाने लगते हैं और श्रोताओं को भी हर घराने का रस या आनन्द प्राप्त होता है।

डॉ. आबान ई. मिस्त्री अपनी पुस्तक 'तबले की बंदिशों' में लिखती है कि- तबले की परम्परागत बंदिशों- वर्ण, बोल, वादन शैलियाँ अर्थात् बाज, घराने एवं लय तथा लयकारियों की गतिविधियों पर आधारित होती है। इन्हें तबला के दांये-बांये की पूंड़ियों पर उंगलियों के विविध निकास द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। ये बंदिशे घरानों की परिधि एवं परम्पराओं की सीमा में वहाँ के उस्तादों द्वारा जन्मी, विकसित हुई एवं प्रसारित हुई।[7]

कहने का तात्पर्य यही है कि बंदिशें ही वह सशक्त माध्यम है जो घरानों का परिचय देती है, क्योंकि ये बंदिशें रचनाकारों व कलाकारों के गहन चिंतन-मनन का प्रतिफल होती है और समय अन्तराल में इनका निश्चित काल तक शोधन हो चुका होता है। यह हमारी भारतीय वैदिक परम्परा का कथन भी है कि एक निश्चित मंत्र का निश्चित संख्या तक, मन, वचन, कर्म से यदि जप किया जाय तो वह मंत्र सिद्ध हो जाता है तो यह कहना गलत नहीं होगा है कि तबले की बंदिशें मात्र बंदिशें ही नहीं बल्कि ये कलाकारों/रचनाकारों के संकल्पित मंत्र है जो सिद्ध होकर घरानों की गरिमा को गौरवान्वित कर रही हैं।

2. शिक्षा-दीक्षा में सहायक- तबले की शिक्षा-दीक्षा घराने की सोच के अनुसार अलग-अलग है। ''तबले के विभिन्न घरानों की मान्यता का आधार उनकी अपनी वादन शैली है। यह दो प्रकार से दिखलायी जाती है। एक बोलों की निकास विधि से अर्थात् बजाने की तकनीक से तथा दूसरी उनकी रचनाओं से अर्थात् उनकी पृथकता और विविधता से।''[8]

बंदिश की पृथकता या विविधता घरानों की परिचायक होती है यह तो पीछे हम जान चुके है। अब इनका निकास तंत्र ही शिक्षा-दीक्षा में सहायक सिद्ध होता है। इस पर विचार कर लें। बंदिशें एक प्रकार से पाठ्यक्रम का कार्य करती है। तबलार्थियों की शिक्षा-दीक्षा हेतु उच्च गुरु या शिक्षक ऐसी बंदिशों पर निरन्तर अनुसंधानात्मक दृष्टि रखते हैं।

डॉ. प्रवीण उद्धव बंदिशों के माध्यम से शिक्षा-दीक्षा की नवीन तकनीक का प्रयोग करते हैं। वे हस्त संस्कार के लिए भी बंदिशों का ही सहारा लेते हैं। उनका मानना है कि तबले के छहो घराने एक दूसरों की वादन-शैली के उच्च सौन्दर्य प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं यदि सकारात्मक दृष्टिकोण रखकर वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग में लाया जाय तो ऐसी क्रियाओं पर वह व्यक्तिगत रूप से सदैव क्रियाशील रहते हैं।

अतः कह सकते हैं कि बंदिशें शिक्षा-दीक्षा के दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्योंकि इनमें से हर बंदिश कोई न कोई विशेषता से पूरित होती है जो हस्त संस्कार के लिए बेहद जरूरी है। हर घराने की कुछ खास बंदिशें होती है जो शिक्षण काल के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होती है। ऐसी बंदिशों का प्रयोग प्रायः कलाकार अपने सम्पूर्ण जीवन करता है।

3. रचनाकार व कलाकार की प्रसिद्धी प्रदायक—यह सर्वमान्य सत्य है कि कलाकार/ रचनाकार को जो युगों-युगों तक स्मरणीय बनाती है या कला जगत में जो सदैव सम्मानदात्री की भूमिका निभाती है वह रचनाकार/कलाकार की अमर 'कृति', 'रचना', या 'बंदिश' होती है। संगीत जगत् के तीनों गायन, वादन, नृत्य क्षेत्रों में ऐसे बहुत से रचनाकार हुए जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन कला को समर्पित कर दिया और उनकी कला समर्पण का मुख्य प्रमाण आज हमारे पास उनकी अनमोल कृतियों के रूप में है जिसके गायन, वादन या नृत्य से हम उनको सदैव स्मरण करते हैं। आज भी जब तबला वादन की किसी परम्परा का प्रतिनिधि कलाकार अपनी प्रस्तुति देता है तो अपने प्रदर्शन में अपनी कलाक्षमता के साथ-साथ अपने घराने की परम्पराओं का दर्शन अवश्य प्रस्तुत करता है जिसके माध्यम से उस परम्परा या घराने के युगपुरुषों का स्मरणवृत्त चित्रित हो जाता है और वर्तमान संगीत जगत् को उन दिव्य विभूतियों का विशाल परिचय भी प्राप्त हो जाता है।

अतः संगीत की अन्य विधाओं के साथ-साथ तबला वादन में भी बंदिशों का सर्वाधिक महत्व है।

## संदर्भः-


1. तबला वादन में निहित सौंदर्य, पं., सुधीर माईणकर, पृ. 63
2. तबला साहित्य, डॉ. प्रवीण उद्धव, पृष्ठ 7
3. संगीत पत्रिका, लेख- ख्याल गायन, की बंदिश, लेखिका- डॉ. मीरा ग्रोवर, पृष्ठ 4 अप्रैल 2008
4. संगीत पत्रिका, लेख- ख्याल गायन की बंदिश : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं वर्तमान स्थिति, लेखिका- डॉ. मीरा ग्रोवर, पृष्ठ 3 अप्रैल 2008
5. संगीत पत्रिका, लेख- ख्याल गायन, की बंदिश, लेखिका- मनीषा कुलकर्णी, पृष्ठ 3 मई 2008
6. संगीत पत्रिका, लेख- ख्याल गायन, की बंदिश, लेखिका- मनीषा कुलकर्णी, पृष्ठ 3 मई 2008
7. तबले की बंदिशें, डॉ. आबान ई. मिस्त्री, पृष्ठ 12
8. तबले की बंदिशें, डॉ. आबान ई. मिस्त्री, पृष्ठ 13

# सरगम एवं लक्षण गीतों द्वारा बालकों में सांगीतिक विकास

**कीर्ति तिवारी**

विद्यालयीन संगीत शिक्षण पद्धति में जहाँ एक ओर विभिन्न विषयों का शिक्षण किया जा रहा है वहीं दूसरी ओर विद्यार्थियों की स्मरण शक्ति, बुद्धिमत्ता एवं कलात्मक क्षमता की वृद्धि के लिए संगीत शिक्षण अत्यन्त आवश्यक है।

संगीत शिक्षण हेतु रागों का महत्व Learning while playing के माध्यम से करने के लिए प्राईमरी स्तर पर सरगम गीतों की तथा जूनियर हाईस्कूल से हाईस्कूल तक लक्षण गीतों की उपादेयता लाभप्रद हो सकती है। संगीत शिक्षण प्राईमरी स्तर से ही आरम्भ हो जाना चाहिए। गुरुकुल पद्धति या कुछ घराना पद्धतियों में तो द्रुत ख्याल का शिक्षण करने से पूर्व सरगम एवं लक्षण गीतों का शिक्षण होता था जिससे विद्यार्थियों को द्रुत ख्याल के पार्श्व में कई सरगम एवं लक्षण गीत कंठस्थ हो जाते थे तथा राग के वादी, संवादी, विशेष स्वर संगतियों को भी भली प्रकार विद्यार्थी जान लेते थे। क्योंकि सरगम एवं लक्षण गीत को सीखने के पश्चात् द्रुत ख्याल को सीखना अत्यन्त सरल हो जाता है और इस प्रकार विद्यार्थी की समझ-बूझ का दायरा भी व्यापक हो जाता है।

वर्तमान में इस प्रकार की गायन शैलियों का विद्यालयीन शिक्षण पद्धति में अभाव है अतः सरगम एवं लक्षण गीतों का संगीत शिक्षण पद्धति में क्या महत्व है? यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। यही जानने एवं प्रकाश में लाने हेतु व्याख्यात्मक विधि का प्रयोग करते हुए इस लेख का उद्देश्य दोनों गायन शैलियों की उपादेयता को उजागर करना है।

मेरे विचार से अगर इस शिक्षण पद्धति का प्रयोग विद्यालयों में अनिवार्य रूप से किया जाये तो विद्यार्थियों की राग को कंठस्थ करने की शक्ति, रचनाधर्मिता, बुद्धिमत्ता, एवं सांगीतिक समझ को परिपक्व किया जा सकता है।

सरगम गीत एवं लक्षण गीत गायन शैलियाँ उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत की सुव्यवस्थित एवं प्रतिष्ठित गायन शैलियाँ है। राग के नियमों से बद्ध केवल स्वर और तालयुक्त ऐसी रचना सरगम कहलाती है जिसमें केवल स्वराक्षरों का ही प्रयोग होता है, सार्थक पदों का नहीं। यह केवल राग के स्वरूप को व्यक्त करती है। यह शिक्षण सम्बन्ध रचना है। जिसकी उपयोगिता राग स्वरूप के ज्ञान के लिये ही है। अतः विशेष रूप से विद्यार्थियों के लिये इसकी रचना हुई है।[1]

राग के समस्त धर्मों का सहज और शीघ्र रूपेण ज्ञान करा देने के लिए लक्षण एवं सरगम गीतों की रचना हुई, इसलिए संगीत-प्रेमियों विशेषतः संगीत-विद्यार्थियों के लिए इनका विशेष महत्व है। किसी भी वस्तु के लक्षणों से उसके मूल स्वरूप का आभास होता है जिस प्रकार वाणी के लक्षण से व्यक्ति, वेश के लक्षण से पुरूष, कर्म के लक्षण से कुल, धर्म के लक्षण से देश तथा नाडी के लक्षण से काल का ज्ञान होता है उसी प्रकार स्वर के लक्षण से राग, राग के लक्षण से रस, रस के लक्षण से भाव और भाव के लक्षण से अंतस्तल का आभास मिलता है तथा स्वरों एवं रागों के लक्षण सरगम एवं लक्षण गीत जैसी गायन शैलियों से स्पष्ट होते हैं।

सरगम गीतों पर यदि दृष्टि डाले तो ये रचना अधिक प्राचीन नहीं है इस की रचना पं. भातखण्डे जी द्वारा हुई है। पं. भातखण्डे जी की सरगम, गीतों

संगीत विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इन्स्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा।

के सर्जन और संग्रह की सेवाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने प्राचीन छंद-शास्त्र की प्रणाली से प्रभावित होकर सैकड़ों सरगम एवं लक्षण गीतों की रचनायें स्वयं की तथा अनेक बड़े-बड़े उस्तादों के पास बैठ-बैठ कर बंदिशों की स्वरलिपि तैयार करके ''क्रमिक पुस्तक मालिका'' में प्रकाशित कराई जिस का लाभ हम वर्तमान समय में ले रहे है। जहाँ तक हमें लक्षण गीतों के संदर्भ में जो तथ्य ग्रन्थों से प्राप्त होते है उनसे यह पता चलता है कि लक्षण गीतों का प्रचलन 15वीं शताब्दी से हुआ है। 15 वीं शताब्दी में बैजू बावरा ने ध्रुपदअंग का स्वरूप देते हुए लक्षण गीतों को प्रारम्भ किया जिसका एक उदाहरण इस प्रकार है-

राग भैरव, चौताल

सा रे रे ग म प ध नी सप्तसुर मों मन में ऐसो ही आवे। आरोही, अवरोही और संचारी लें दिखावे नी ध प म ग रे सा, नी नी ध ध प प म म ग ग रे रे सा सा रे ग म प ग म प ध नी ध नी सा रे सा नी ध नी ध प म प म म नी ध रे ग म प म ग ग रे रे।

अलंकार नाद तीन ग्राम मूरछन श्रुति प्रमाण सा नी ध प कंठ बरण बनावे। कहे बेजू बावरे सुनिये गोपाल नायक संगीत मुद्रा सुध बानी तंत्र मंत्र सो बतावे।[2]

बैजू बावरा ने लक्षण गीत को ध्रुपदअंग का स्वरूप देते हुये सरगम गीत का भी प्रयोग किया है। उपर्युक्त कथन से यह सत्य है कि लक्षण गीतों की परिपाटी प्राचीन काल से ही भारत में प्रचलित थी। जिस समय संस्कृत भाषा बोल-चाल की भाषा थी, तब आवश्यक बातों एवं सिद्धांतों को सूत्र-रूप से या लोकबद्ध करके याद रखने की परिपाटी बनी तभी से संगीत के गुणाजनों ने यह अनुभव किया कि जिस प्रकार हिन्दी साहित्य में दोहे, सोरठे या चौपाइयों इत्यादि के रूप में सुरक्षित रखा गया है तो क्यों न संगीत शास्त्र के सिद्धान्तों को गीतबद्ध करके याद करने या सुरक्षित करने की परिपाटी बनाई जाये जिसके फलस्वरूप वही परिपाटी समयानुसार परिवर्तित होकर वर्तमान समय में सरगम एवं लक्षण-गीतों के रूप में प्रचलित हुई।[3]

भातखण्डे जी द्वारा रचित सरगम एवं लश्रण गीतों का एक-एक उदाहरण

राग भूपाली-सरगम गीत[4]

स्थाई तीनताल

| | | | |
|---|---|---|---|
| सां सां ध प | ग रे सा रे | ग ऽ प ग | ध प ग ऽ |
| 0 | 3 | x | 2 |
| ग प ध सां | रें सां ध प | सां प ध प | ग रे सा ऽ |
| 0 | 3 | x | 2 |

अन्तरा

| | | | |
|---|---|---|---|
| ग ग प ध | प सां ऽ सां | ध ध सां रें | गं रें सां ध |
| 0 | 3 | x | 2 |
| गं गं रें सां | रें रें सां ध | सां सां ध प | ग रे ऽ सा |
| 0 | 3 | x | 2 |

राग भूपाली-लक्षण गीत[5]

स्थाई तीनताल

- - सा रे
- - म नी
2

| | | | |
|---|---|---|---|
| ग ग प रे | - सा सा रे | सा ध़ सा रे | ग ग - - |
| ब र ज गा | ऽ य रा ऽ | ग नि क र | ज ब ऽ ऽ |
| 0 | 3 | x | 2 |

ग - ग रे ग प ध सां ध प ग रे ग रे सा सा

| | | | |
|---|---|---|---|
| भो ऽ पा ऽ | ली ऽ अं ग | क ह त गु | नी ऽ स ब |

0 3 X 2

सा रे सा सा | सां- सांप ध | सां सां ध प | ग रे,सा रे

शु ऽ द्ध क | ल्या ऽ णऽ बि | लु म न त | ज त,म नि

0 3 X 2

अन्तरा

प - ग - | प - सां ध सां | - सां सां सां | रें सां -

गा ऽ वा ऽ | दी ऽ अ रू | ध ऽ स म | ग ऽ दी ऽ

0 3 X 2

सां ध ध ध | सां सां सां - | सां रें गं रें | सां रें सां ध

दे ऽ शि का | ऽ र में ऽ | अं ऽ श सु | धै ऽ व त

0 3 X 2

प ग प ध | सां - सां सां | ध प ग प | ग रे सा सा

रा ऽ ग बि | भा ऽ स स | ज त को ऽ | म ल ध र

0 3 X 2

सा रे सा सां | - सां सांप ध | सां - ध प | ग रे सा रे

शा ऽ स्त्र भे | ऽ द सऽ म | झा ऽ य च | तु र, म नि

0 3 X 2

इन उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि सरगम एवं लक्षण गीतों को कंठाग्र करने का प्रयत्न किया जाए, तो प्रत्येक राग की कुंजी कंठ में विद्यमान हो जाएगी।

इसी संदर्भ में साक्षात्कार द्वारा प्राप्त कुछ गुनीजनों के विचार-

- दिल्ली विश्वविद्यालय की प्रो० उमा गर्ग जी का कहना है- सरगम गीतो से विद्यार्थियों को राग में प्रयुक्त होने वाले स्वर, स्वर चलन, राग का मुख्य रूप, ताल एवं लय का ज्ञान हो जाता है एवं लक्षण गीतों से राग के लक्षणों का बोध होता है परन्तु वर्तमान समय में सरगम एवं लक्षण गीत बहुत ही कम विद्यालयों में सिखायें जा रहे है जिसका मुख्य कारण निर्धारित पाठ्क्रम, शिक्षकों के पास समय का अभाव, कार्य व्यस्तता एवं आधुनिकता है। शिक्षकों को पाठ्क्रम की वजह से राग को सीधे द्रुत ख्याल से आरम्भ करना पड़ता है यदि राग को सरगम एवं लक्षण गीतों के माध्यम से सिखाया जाये तो प्रत्येक विद्यार्थी में राग की समझ को उजागर किया जा सकता हैं।
- बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो० ऋत्विक सन्याल जी का कहना है- सरगम एवं लक्षण गीतों का शिक्षण प्राईमरी स्तर से लेकर हाई स्कूल, इण्टरमीडिएट, स्नातक, स्नातकोत्तर एवं एक कलाकार तक बनाने के लिए होना चाहिए। ऐसा नहीं है कि सरगम गीतों का मतलब केवल सरल गीतों से ही है। सरगम गीतों में क्लिष्टत्म से क्लिष्टत्म स्वर संगतियाँ भी हो सकती है इस लिए स्नातक एवं स्नातकोत्तर के विद्यार्थियों के लिए भी यह लाभप्रद है। लक्षण गीतों का सबसे बड़ा लाभ यह है कि राग-विवरण के साथ-साथ उसका स्वरूप भी मस्तिष्क में ध्वनिबद्ध हो जाता है अन्यथा केवल कोमल-तीव्र स्वरों, वादी-संवादी, थाट, जाति, गायन समय आदि से राग गायन का पूर्ण पुष्ट और ठीक-ठीक आभास नहीं मिल सकता।
- आगरा घराने के वरिष्ठ कलाकार उस्ताद याकुब खाँ साहब जी के अनुसार- वर्तमान समय में इस प्रकार की शिक्षण पद्धति का अभाव होता जा रहा है लेकिन जिस प्रकार से हमने गुरुकुल पद्धति और घराना पद्धति में द्रुत ख्याल का शिक्षण करने से पूर्व सरगम एवं लक्षण गीतों का शिक्षण किया है यदि इसी प्रकार से वर्तमान समय में विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाये तो उनके स्वर लगाव व स्वर स्थानों को प्रारम्भिक अवस्था से ही मजबूत किया जा सकता है और इस कार्य को सरलता से करने के लिए सरगम एवं लक्षण गीत गायन शौलियाँ सही माध्यम है।
- पद्म भूषण से सम्मानित पं. छन्नूलाल मिश्र जी के अनुसार-शास्त्रीय संगीत को

सीखने की आवश्यकता नहीं है यदि प्रारम्भ के केवल दो आधार राग जैसे-राग यमन और राग भैरवी को ही ले लिया जाये क्योंकि राग यमन माता पार्वती और राग भैरवी देवों के देव शिव जी को संबोधित करते हुये राग है। राग यमन में मध्यम तीव्र एवं राग भैरवी में ऋषभ, गंधार, धैवत, निषाद स्वर कोमल प्रयोग होते है। अतः विद्यार्थी रागों के साथ-साथ बारह स्वरों का भी ज्ञान कर लेता है। इन दो रागों में ही सरल अलंकार, स्वर विस्तार, राग चलन, राग अभ्यास, विभिन्न तालों का अभ्यास किया जाये तो संगीत के आधार को हम सरलतम से सरलतम प्रकार से सीख सकते है। हमारे घराना पद्धति में उस्तादों के पास पठन-पाठन की सामग्री वर्तमान समय के अनुसार बहुत ही कम हुआ करती थी इस लिए हमारे उस्तादों ने क्रियात्मक संगीत पर ही अधिक ध्यान दिया और केवल प्रारम्भिक स्तर पर ही रागों को समझने के लिए एक या दो रागों का ही अभ्यास कई-कई वर्षों तक कराया जिस कारण हमने इस संगीत जगत में यहाँ तक की यात्रा तय की। अतः मेरा यह कहना है कि प्रत्येक विद्यार्थी को इस ही प्रकार से अभ्यास करना चाहिए ताकि आने वाले समय में वह सूर्य प्रकार के समान प्रज्ज्वलित हो सके।

सरगम गीत और लक्षण गीत के माध्यम से विद्यार्थियों को निम्न तथ्य जाने का लाभ हो सकता है जो कि इस प्रकार से है-

- राग लक्षण
- राग चलन
- विशेष स्वर संगतियाँ
- सौन्दर्य मूलक तत्व
- स्वर विस्तार
- साहित्य की भाषा शैली
- ताल प्रयोग

सरगम एवं लक्षण गीतों को सीखने के पश्चात् द्रुत ख्याल को सीखना अत्यन्त सरल हो जाता है इस प्रकार विद्यार्थी की समझ बूझ का दायरा भी व्यापक हो जाता है। जैसा की हमारे गुणीजनों ने कहा है कि वर्तमान समय में इस प्रकार की शिक्षण पद्धति के पाठ्यक्रम में सुधार किये जाये तो विद्यार्थियों की राग को कंठस्थ करने की शक्ति, रचना धर्मिता, बुद्धिमत्ता एवं सांगीतिक समझ को परिपक्व किया जा सकता है।

सरगम एवं लक्षण गीत के सम्भावित शिक्षण प्रयोग-

- प्राईमरी स्तर पर
- जूनियर हाईस्कूल स्तर पर

इन स्तरों पर कम विद्यार्थियों को तीनताल, झपताल में सरगम एवं लक्षण गीत सिखाये जाये जिसके फलस्वरूप उन्हें प्रारम्भ में शुद्ध कोमल, तीव्र स्वरों का अभ्यास, सरल सीधे अलंकारों का अभ्यास, सा,रे,ग,म,प,ध,नी,सां आरोह एवं अवरोह लिखकर दो चार बार दोहराने के बाद अलग-अलग पल्टों का अभ्यास, अलंकारों को बनाने की क्रिया का अभ्यास, तालों को समझने का अभ्यास, तीनताल एवं झपताल में बन्दिशों का अभ्यास आदि कराना चाहिए।

- हाई स्कूल स्तर पर
- माध्यमिक स्तर पर

हाई स्कूल एवं माध्यमिक स्तर पर विद्यार्थियों को तीनताल, झपताल, रूपक ताल एवं एकताल में सरगम एवं लक्षण गीत सिखाने चाहिये। सरगम एवं लक्षण गीत ऐसे गीत है जो कि विद्यार्थियों की प्रारम्भ अवस्था में राग समझ को बढ़ाते है कम से कम प्रत्येक विद्यार्थी को 15-20 लक्षण गीत बेसिक रागों में सिखाने चाहिए। लक्षण गीतों की लय मध्यलय होनी चाहिए। कुछ महिनों तक मध्यलय में सिखाने के पश्चात् बिलंबित लय में बड़ा ख्याल व छोटे ख्याल प्रारम्भ करने चाहिए। एकताल, झपताल, रूपक ताल एवं तीनताल इन सभी तालों के बोल विद्यार्थियों को कंठस्थ कराने चाहिए तत्पश्चात् तबले के साथ उन बोलों को याद कराना चाहिए।(6)

उपर्युक्त स्तरों में से भी प्रारम्भिक दो स्तरों पर सरगम गीतों का शिक्षण अनिवार्य रूप से होना चाहिए। इसी प्रकार हाई स्कूल में लक्षणगीत एवं माध्यमिक स्तर पर लक्षण गीत एवं द्रुत ख्याल विद्यार्थियों को सिखाना चाहिए।

निष्कर्ष रूप से यह कह सकते हैं कि सरगम गीत एवं लक्षणगीत न केवल ऐसी गायन शैलियाँ है जो विद्यार्थियों को राग एवं स्वर से परिचित करा सकती है अपितु यदि इन्हें प्राइमरी स्तर से आरम्भ किया जाये तो विश्वविद्यालय स्तर के शिक्षण हेतु विद्यार्थी ही नहीं कलाकार के रूप में विद्यार्थी प्रवेश ले सकेगें।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


1. चौधरी, सुभद्रा, भारतीय संगीत में लय और रूप-विद्यान, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ (म.प्र.) कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, प्रथम संस्करण 1984, पृष्ठ 291
2. गर्ग लक्ष्मीनारायण प्रधान संपादक, संगीत पत्रिका, लक्षण-गीत अंक संगीत कार्यालय हाथरस प्रकाशन, जनवरी 1971, पृष्ठ सं. 9
3. वही पृष्ठ सं. 7
4. पं. भातखण्डे विष्णु नारायण, क्रमिक पुस्तक मालिका भाग संगीत कार्यालय हाथरस, पृ.-10
5. वहीं पृष्ठ सं.-60
6. डॉ पटवर्धन सुधा, संगीत शिक्षा, कनिष्क पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2016 पृष्ठ सं.-18, 19
7. डॉ. कुमार नरेश, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में प्रयोग एवं परिवर्तन, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013

# मानव जीवन में लोकगीतों का महत्त्व

**जितेन्द्र सिंह**

लोक से तात्पर्य लोक व्याप्त जन सामान्य की समस्त, व्यवहारिक एवं कलात्मक गतिविधियाँ, जो परम्परानुमोदित तथा संस्कारनिष्ठ हैं साथ ही अलिखित है और दूसरा 'वेद' से बौद्धिक शास्त्रीय या प्रमाणित गतिविधियाँ हैं, जो लिखित तथा विदित हैं-दोनों एक ही समाज की पूरक संस्कृतियाँ हैं। लोक तथा वेद के दो पहियों पर ही भारतीय समाज का रथ चल रहा है। समन्वय तथा मर्यादा के प्रतीक महाकवि तुलसीदास जी भी लोक और वेद को अभिन्न मानते हैं।

लोक संस्कृति को सदैव परम्परा से जोड़कर देखते हुए आनन्द के. कुमार स्वामी ने 1936 ई. में अपने एक प्रसिद्ध लेख 'द देचर ऑफ फोकलोर एण्ड पॉप्युलर आर्ट'' में स्पष्ट किया है- ''सभी पारम्परिक कलाएँ लोक कलाएँ हैं क्योंकि यह सर्वसम्मति एवं निर्विवादित जन की रचना है।''[1]

आदिमानव के अंतस में जो अपरिष्कृत भावलहरियाँ अपने लयात्मक रूप में बोलियों के अनुस्यूत होकर जन-जन का कण्ठहार बनीं, इसी का नामाकरण है 'लोकगीत' में व्यक्ति विशेष की रचना नहीं, इनकी सृष्टि जनमानस में अनुभूतियों की तीव्रता से स्वतः सम्मत होती है। व्यष्टि से समश्टि की यात्रा करते हुए ये गीत एक कण्ठ से निकलकर सबके कण्ठ का कण्ठहार बन जाते हैं। ये सतत् प्रवहमान एवं साधारणीकरण द्वारा सम्पूर्ण जनमानस की रचना है। जन-जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद ही इन गीतों के बीज होते हैं। लोकगायकों के कण्ठों पर तरंगयित तथा श्रुति परम्परा के चलते इसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन होता रहता है। रूप बदलता है, नये गीत जन्म लेते हैं और इस प्रकार लोकगीतों के नव निर्माण की यह प्रक्रिया लोक जीवन में सतत् चलती रहती है।[2]

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में-''लोकगीत किसी संस्कृति के मुंह बोलते चित्र हैं। फलतः लोक गीतों का मूलजातीय संगीत में कथन सत्य है।[3]

## लोक संगीत की परिभाषा

जिस प्रकार संगीत की परिभाषा के अन्तर्गत गायन, वादन एवं नृत्य का समावेश है, उसी प्रकार लोक संगीत की व्यापक परिभाषा के अन्तर्गत लोकगीतों, लोकवाद्यों व लोकनृत्यों का समावेश है। यह तीनों परस्पर अलग-अलग होते हुए भी लोकनृत्य ऐसा नहीं मिलता जिसमें लोकगीत या लोकवाद्यों का समावेश न हो। इसी प्रकार अधिकतर लोकगीतों में लोकवाद्यों का प्रयोग एवं नृत्य करना सम्भव है।

## लोकसंगीत के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत

पं. ओंकारनाथ ठाकुर के अनुसार, ''देशी संगीत की पृष्ठभूमि ही लोक संगीत है।''

महात्मा गाँधी के अनुसार, ''लोक संगीत को बराबर जगत गाता है और नृत्य करता है।''

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार, ''आधुनिक जीवन को सुन्दर, समृद्ध व सम्पन्न बनाने के लिए लोक संगीत सहायक सिद्ध होगा।''

रविन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार, ''संस्कृति का सुखद संदेश ले जाने वाली कला है लोक संगीत।''

शोध छात्रगायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

एक विलियम के मतानुसार, ''A folk song is neither new nor old. It is like a forest tree with its roots deeply burried in the past, but which continually puts forth new branches, new leaves, new fruits.**

अर्थात् लोक गीत न पुराना होता है, न वह जंगल के वृक्ष जैसा है जिसकी जड़ें पूरी जमीं पर धंसी हुई हैं, परन्तु जिसमें निरन्तर नई-नई डालियां, पल्लव (पत्ते) और फल लगते हैं।''[4]

लोक शब्द प्राचीन भारतीय वाङमय में प्रयोग किया जाता है। वेद, उपनिषद एवं गीता में इसका बहुत बड़े पैमाने पर उपयोग किया गया है।

सामान्य लोकजीवन की पार्श्वभूमि में अचिंत्यरूप से अनायास ही फूट पड़ने वाली मनोभावों की लयात्मक अभिव्यक्ति लोकगीत कहलाती है।[5]

लोकगीतों के दो अंग होते हैं-कविता और घुन या शब्द और स्वर। कुछ रचनाकार पहले कविता बनाते हैं फिर संगीत निबद्ध करते हैं, कुछ पहले धुन बना लेते हैं फिर उस पर शब्दों की रचना करते हैं, पर कुछ के मुख से स्वर और शब्द एक साथ निकल पड़ते हैं, जो कि विशेष भाव के कारण अंतः प्रेरणा से निकलते हैं। अधिकांशतः तीसरा प्रकार ही लोकगीत की विशेषता है। लोकगीतों में कविता तथा धुन के भावों में साम्य रहता है। लोकगायक अपने सुख-दुःख के समय अपने अनुभवों को गीतों के माध्यम से प्रकट होते हैं। इन गीतों में सूक्ष्म-सूक्ष्मता की अपेक्षा स्थूलता तथा स्पष्टता का अधिक महत्त्व रहता है। लोक गीतों में स्वरों के उतार-चढ़ाव का विचित्र तथा चमत्कार नहीं मिलता, परन्तु जो भी स्वर प्रयोग इनमें मिलते हैं उनमें संपूर्ण संवेदनाओं तथा अनुभूति की निष्कपट सरल अभिव्यक्ति के कारण हृदय को बरबस खिंचने का आकर्षण होता है। लोकगीतों में अधिकतर सात शुद्ध स्वर तथा दो विकृत कोमल गंधार तथा कोमल निषाद स्वरों का प्रयोग मिलता है। अधिकतर लोक संगीत का विस्तार चार या पाँच स्वरों में ही होता है। अनेक रागों का जन्म ही लोक धुनों से ही हुआ है, जैसे-आसावरी, माण्ड, झिंझोटी, पहाड़ी, बागेश्वरी, भीमपलासी इत्यादि। लोक संगीत में प्रयुक्त होने वाले अवनद्य तथा घन वाद्यों में ढोलक, खंजरी, झांझ और करताल प्रमुख हैं।

भिन्न-भिन्न स्थानों की भिन्न-भिन्न भौगोलिक अवस्था के कारण लोक गीतों में भी प्रादेशिक स्तर पर भिन्नता आ जाती है। यह भिन्नता भाषा, साहित्य, लय के विशिष्ट प्रयोगों, स्वरों के भिन्न संवादों के कारण दृष्टिगोचर होती है। अर्थात् विभिन्न प्रदेशों में भिन्न भौगोलिक वातावरण के कारण, साहित्य आदि में भी बदलाव आते हैं, जो वहाँ के लोक संगीत को भी स्वाभाविक रूप से प्रभावित करते हैं। किन्तु लोकगीतों की उत्पत्ति का उद्देश्य परिवर्तित नहीं होता। चाहे वह किसी भी प्रदेश या जनजाति का लोकनृत्य हो किन्तु उसमें एक तथ्य कभी नहीं बदलता, वह यह कि लोकगीत मानव जीवन का सजीव दर्पण होता है। इसका निर्माण मनुश्य के इर्द-गिर्द के वातावरण, भावात्मक संघर्षों, दैनिक जीवन की घटनाओं, क्रियाओं के फलस्वरूप होता है। लोकगीतों का संबंध मनुष्य के कार्यों एवं गतियों से होता है। जैसे-चक्की पीसते, धान रोपते, फसल काटते, झुला झूलते, समय कोई न कोई संबंधित गीत गाया जाता है।

## पं. कुमार गन्धर्व जी के शब्दों में

''बचपन में मैं समझता था कि राग बनाये जाते हैं, परन्तु अनुभव से इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि राग बनाये नहीं जाते बल्कि बनते हैं। हम लोक धुनों में रागों को छुपा हुआ पाते हैं। उन्हें पकड़कर जब हम प्रकट कर देते हैं तब शास्त्रीय पक्ष सामने आता है। लोक धुनों निहसग निभाते हैं इसलिए निःहसंग की तरह वे पूर्ण होते हैं। उनमें कोई न कोई राग अवश्य होता है उसके लिए दृष्टि की आवश्यकता होती है। राग के मूल स्वरों को जानकर जब उन्हें पूर्णता जानकर जब उन्हें पूर्णता प्रदान की जाती है शास्त्रीय दृष्टि से राग का रूप निखर आता है। (गुरु स्मृति पत्रिका अगस्त 1995)

प्रसिद्ध विद्वान भगवत शरण शर्मा के अनुसार-संस्कृति में संगीत को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। भारत के सभी क्षेत्रों में लगभग हर 40 मील के बाद भाषा व संगीत की भूमि बदल जाती है। सभी स्थानों पर सुख-दुःख को प्रकट करने प्रेम व कष्ट को दर्शाने के लिए भी संगीत का प्रयोग हुआ है। सभी राज्यों का संगीत अपनी एक अलग पहचान

बनाये हुए हैं। इसके साथ ही प्रत्येक राज्य के अलग-अलग भागों में अलग प्रकार का लोक संगीत दिखाई देता है। सभी राज्यों का संगीत सम्पूर्ण देश में एक अपना विशेष स्थान रखता है।

प्रत्येक जनपद प्रकृति के विभिन्न घटनाओं से सुसज्जित है। यहाँ के सामाजिक जीवन पर प्रत्येक अवसर में लोकगीत गाये जाते हैं, जो इस प्रकार से है।

## संस्कार गीत

1. जन्म सम्बन्धित जच्चागीत, नामकरण, प्रसव गीत।
2. विवाह गीत-उबटन, हल्दी गीत, भात, विदाई, कन्यापक्ष व वर पक्ष के गीत।
3. मृत्यु गीत-वृद्धों के मृत्यु पर गाये जाने वाले भजन।
4. ऋतु सम्बन्धित गीत एवं त्यौहार गीत-सावन के गीत, फाल्गुन के गीत, चैत के गीत।
5. व्रत सम्बन्धित गीत-जन्माष्टमी, रामनवमी, एकादशी, छठ, नवरात्र इत्यादि।

भारतीय लोक संगीत में लोक नृत्य व लोक वाद्यों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण भारत में अपनी आंचलिक मान्यताओं तथा अपनी रीति-रिवाजों तथा संस्कृति परम्परा के अनुरूप ही लोकनृत्य तथा लोक वाद्यों का निर्माण किया जाता है। विभिन्न राज्यों में प्रचलित आँचलिक प्रतिनिधि लोकनृत्य व वाद्य जो केवल उन्हीं राज्यों की सांस्कृतिक एवं पारम्परिक पहचान हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं-

प्रदेश वाद्य नृत्य

उत्तर प्रदेश मुरज, उपंग, वेणु, झालर, भोंपू सखिया, करमा, सैया, बोटीया

असम काहिली, पेपा, टेपा, दम, ताल देओरी, वसन्त नृत्य, हुरई, रंगीली, फकुआ, बीहु आदि

उड़ीसा धौंसा, माहुरी, घुमूड़ा, मडिल, गिनी युद्ध, डालखाई, घुमुरा, चढ़ैया, करमा, गड़ाबा

तमिलनाडु नागस्वरम्, नैयन्दिमेलम, थालम कारागम, कण्डत्री, कुरूवंपी

## लोक संगीत के लक्षण

लोकसंगीत के निम्न लक्षण निर्धारित किए गए हैं-

1. पारम्परिकता
2. स्वराकार का ज्ञान होना।
3. अल्प स्वरों का प्रयोग।
4. अंतरे का अनिवार्य न होना।
5. संगीत के शास्त्रीय नियमों से मुक्त होना।
6. सहजता
7. पुनरावृत्ति
8. लोकगीत का सहजनुमा होना
9. निरर्थक शब्दों का प्रयोग लोकगीत एवं लोकरुचि की अनुकूलता

वास्तव में लोकगीत कभी न छीजने वाले रस के सोते हैं। हृदय को आनन्दित करने वाले हैं। ये लोकगीत सदैव लोक की निधि रहे हैं। इन पर सबका समान अधिकार है।[12] भारत की संस्कृति लोक-गीतों में रची बसी है। लोक-गीतों में हमारे लोकजीवन संबंधी इतिहास, धर्म-पुराण, दर्शन, तीज-त्यौहार आदि की झलक दिखाई देती है।

लोक-गीतों में मानव जीवन समस्त पहलू चित्रित होने के साथ ही साथ प्रकृति का वर्णन भी अछूता नहीं रहा है। इनमें प्रत्येक ऋतु का वर्णन मिलता है। चाहे व वसन्त ऋतु हो, वर्षा ऋतु हो या सावन ऋतु।

## संदर्भ सूची

1. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : जनपद, खण्ड-1, अंक-1, अक्टूबर 1952
2. पाण्डे, राम, राजस्थान की लोक कला, बी. 424, मालवीय नगर, जयपुर-2010, पृ0 115
3. मालवी लोकगीत एक विवेचनात्मक अध्ययन- डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय, पृ. 68
4. भारतीय लोकगीत- डॉ. सुरेश गौतम, शब्द सेतु, दिल्ली।
5. लोकरंग- दयाप्रकाश सिन्हा, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, संस्कृति कार्य विभाग, उ.प्र.
6. लोकगीतों के संदर्भ और आयाम- डॉ. शान्ती जैन

# संस्थागत संगीत-शिक्षण पद्धति में महिला शिक्षक-कलाकारों की भूमिका

**कु. आकांक्षा पाल**

भारत वर्ष में सभ्यता, संस्कृति व संगीत तीनों ही सर्वश्रेष्ठ व सर्वप्रिय कारक हैं। भारत का सम्पूर्ण इतिहास इन्हीं तीनों कारकों के आशीष से भविष्य को सींचता है। जब-जब मनुष्य ने अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने हेतु नवीन प्रयोग व प्रयत्न किये तब-तब वह अनजाने ही सभ्यता के निश्चित युग की ओर बढ़ता चला गया।

प्राचीन काल से ही भारतीय संगीत में समय-समय पर अनेक परम्पराओं का विकास होता रहा है। परम्परा एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा निरन्तरता बनाए रखी जाती है। परम्परा शास्त्रीय कला को जीवन्त अनुभव प्रदान करती है। परम्पराओं का पालन करने व नई सौन्दर्य दृष्टि अपनाने से ही कला की नींव सुदृढ़ होती है व विकास क्रम सहज रूप से बना रहता है।

संगीत अक्षुण्ण कला है जो हमें धरोहर के रूप में विरासत में मिली है। भारतीय संगीत विश्व में प्राचीनतम है और यह शताब्दियों की दासता के बावजूद, अपनी श्रेष्ठता, परिपक्वता, गहराई एवं निष्ठावान कलाकारों की लगन के कारण बिखरने नहीं पाई।

कला चाहे कोई भी हो, एक तरफ हमें उससे अलौकिक आनन्द मिलता है तो दूसरी तरफ वह हमारी संकुचित भावनाओं को समाप्त कर हमारी भावनाओं को उदात्त बनाती है। 'किसी भी ललित कला के दो अंग रहते हैं, जिनके सहयोग से ही कला निर्माण की क्रिया पूरी होती है। मानवीय स्वभाव की एक विशिष्टता यह है कि सुंदरता के प्रति उसे अनिवार्य आकर्षण रहता है; सुन्दरता को अनुभव करने की शक्ति भी प्रत्येक मनुष्य में अंशतः होती है। कलाकार में यही शक्ति कई गुना अधिक होती है।'[1]

'The sensitive artiste develops the 'hearing ear' and 'seeing eye' which forever lead one to seek search, Making one's entire life a voyage of discovery.'

Chitra Visweswarn[2]

वैदिक युग से चली आ रही हमारी परम्परा जिसमें गुरु से शिष्य को शिक्षा दी जाती थी, फिर संगीत का इतिहास बना, राग बने, ताल बने, फिर धीरे-धीरे विभिन्न शैलियाँ बनी, परम्पराएं बनी, तत्पश्चात् गुरुकुल पद्धतियों ने हमारे यहाँ एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया। 'ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वैदिक काल से ही 'उपनिषद' शब्द 'उप' (निकट) 'नि' (नीचे) और 'सद्' (बैठना) से मिलकर बना है अर्थात नीचे निकट बैठना। तात्पर्य यह है कि उस समय शिष्यगण गुरु से गुप्त विद्या सीखने के लिए उसके निकट बैठते थे।'[3] इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा संगीत शिक्षण की सबसे प्राचीनतम एवं सर्वश्रेष्ठ प्रणाली मानी जाती है।

भारत में संगीत-शिक्षण प्रणाली मुख्य रूप से दो प्रकार की रही है-

1. गुरुकुल शिक्षण पद्धति
2. संस्थागत शिक्षण पद्धति

19वीं सदी के अन्त तक मुख्य रूप से कलाकारों का निर्माण गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा ही हुआ। इस पद्धति का प्रचार आज भी है लेकिन इस पद्धति

शोध छात्रा, संगीत एवं प्रदर्शन कला चिभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

से पर्याप्त प्रमाण में संगीत की शिक्षा का कार्य नहीं किया जा सकता था। इस कारण लगभग 150 वर्ष पूर्व से विद्यालयीन स्तर पर संगीत का शिक्षण आरम्भ हुआ और संगीत की संस्थागत शिक्षण पद्धति प्रचार में आई।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् परिस्थितियाँ बड़ी तेजी से परिवर्तित हुई। संगीत में रूचि और लगाव रखने वाले लोग भी अपने-अपने दायित्वों के कारण और विद्यार्थी अपने नियमित पाठ्यक्रमों के दबाव के रहते, गुरु-शिष्य परम्परा जो एक प्रकार से सीमित लोगों को ही उपलब्ध थी अथवा अपेक्षित समय के अभाव में चाहकर भी संगीत से दूर होते जा रहे थे। बदली हुई परिस्थितियों में ऐसे लोगों को धीरे-धीरे संगीत शिक्षण संस्थायें अधिक उपयोगी लगने लगी। नई स्थापित संगीत संस्थाओं में संगीत के क्रियात्मक पक्ष के साथ-साथ संगीत के शास्त्रीय पक्ष की शिक्षा भी विद्यार्थियों को आवश्यकतानुसार देने की व्यवस्था की गई थी।[4] अर्थात् जो संगीत गुरूकुल में रहकर सीखा जाता था, वह आज विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में अन्य विषयों के साथ एक विषय के रूप में सिखाया जा रहा है। साथ ही ऐसी संस्थाएँ जो केवल संगीत की शिक्षा देती है उनके द्वारा भी संगीत शिक्षा का प्रचार-प्रसार हो रहा है। ऐसी मौखिक एवं प्रदर्शनात्मक कला में रूचि रखने वाले सामान्यजनों के लिए सामूहिक संगीत शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाओं का श्रीगणेश श्रद्धेय पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर एवं पं. विष्णु नारायण भातखण्डे के द्वारा किया गया। संगीत की इसी धारा में अनादि काल से ही सौन्दर्य एवं माधुर्य की अभिवृद्धि में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस बात का इतिहास भी साक्षी रहा है कि हर युग में महिलाओं ने अपनी कला साधना द्वारा कला के क्षेत्र में नए-नए आयाम स्थापित किए हैं। इसी साधना का परिणाम है कि इतिहास ऐसी सुसंस्कृत महिलाओं की कलाकृतियों से परिपूर्ण रहा है।

संगीत का संस्थागत प्रशिक्षण दो प्रकार की संस्थाओं के माध्यम से होता है-एक तो अन्य विषयों के साथ संगीत की शिक्षा देने वाली संस्थाएँ एवं दूसरी केवल संगीत की शिक्षा देने वाली संस्थाएँ। प्रथम वर्ग में सामान्य विद्यालय एवं महाविद्यालय आते हैं तथा दूसरे वर्ग में संगीत विद्यालय एवं विश्वविद्यालय के संगीत विभाग आते हैं।

वर्तमान में संगीत की शिक्षा विद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्तर पर ही अधिकांश रूप से निर्भर है अतः शिक्षकों पर यह नैतिक जिम्मेदारी आती है, कि वे घराना एवं शिक्षण संस्थाओं गुण-दोष पर सूक्ष्मता से विचार करके दोनों ही पद्धति के गुणों को अपनाते हुए शिष्यों/विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करना चाहिए और जो दोष हो उन्हें खुले एवं उदार मन से दूर करने का प्रयास करना चाहिए। युवा पीढ़ी में भी ऐसी महिलाएं कलाकार हैं, जिन्हें गुरुकुल पद्धति से शिक्षा मिली है किन्तु साथ ही साथ वे आधुनिक माध्यम से प्रतीक्षित है अतः वे वर्तमान पीढ़ी के समक्ष प्राचीन संगीत की व्याख्या कर सांस्कृतिक, पीढ़ीगत एवं प्रवृत्तिगत अंतर को पाट सकती है।

देखा जाए तो संगीत की कोई भी विधा हो चाहे शास्त्रीय हो या उपशास्त्रीय संगीत, लोक संगीत, सुगम संगीत इत्यादि इन सभी विधाओं में महिलाओं की भूमिका सराहनीय रही है। परिणाम स्वरूप अधिकांश संस्थाओं में एवं इसके अतिरिक्त जैसे-आकाशवाणी, दूरदर्शन एवं संगीत सम्मेलनों इत्यादि स्थानों पर भी महिलाओं ने अच्छी संख्या में सम्मानीय स्थान प्राप्त किया है। संगीत को कैरियर के रूप में अपना कर महिलाओं ने संगीत के हर पक्ष पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया है।

आज ऐसी ही अनेक उत्कृष्ट महिला शिक्षक-कलाकारों ने संस्थागत शिक्षण प्रणाली एवं गुरु-शिष्य परम्परा दोनों ही संगीत पद्धतियों के गुणों का समन्वय कर विभिन्न शिक्षण संस्थाओं में अपनी अहम भूमिका निभाती आ रही है-विदुषी डॉ. प्रभा अत्रे, प्रो. सुमति मुटाटकर, प्रो. प्रेमलता शर्मा, प्रो. श्रुति सिडोलिकर, डॉ. मधुबाला सक्सेना, प्रो. कृष्णा विष्ट, डॉ. अलकनन्दा पलनीटकर, सुश्री डॉ. गीता बनर्जी, प्रो. स्वतन्त्र शर्मा, विदुषी कमला बोस, प्रो. संगीता पण्डित, प्रो. शारदा वेलंकर, प्रो. रेवती साकलकर, डॉ. उमा गर्ग, प्रो. रंजना टोनपे, सुश्री सुभदा देसाई, प्रो. अनन्या मिलिन्द थात्ते इत्यादि।

इस प्रकार आज संगीत विषय को ऐसी ही महिला शिक्षिकाओं की आवश्यकता है जिनमे एक शिक्षक

व कलाकार दोनों के ही गुण विद्यमान हो अर्थात् वो एक कुशल शिक्षक के साथ एक सफल कलाकार भी हो। साथ ही वे योग्य, सृजनशील, जिज्ञासात्मक वृत्ति से युक्त खुले विचार वाली हो, जिनमें विभिन्न संगीत पद्धतियों का ज्ञान हो, जिससे वो उनके साथ संगीत का सम्बन्ध स्थापित करके नए आयामों को जन्म दे सके तथा जो नए विचारों को ग्रहण करने और उपयोग करने हेतु सदा तत्पर हो।

अतः वर्तमान में स्त्री शिक्षा, समाज के बदलते हुए मूल्यों तथा स्त्रियों के आर्थिक स्वातंत्र्य ने जहां स्त्रियों को अपने सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक अधिकारों के प्रति सजग बनाया है, वहीं वर्तमान परिवर्तित सामाजिक परिवेश में स्त्रियाँ नवीन भूमिकाएं भी ग्रहण कर रही है। जिससे वो देश को और अधिक उन्नत एवं विकसित बनाने में अपना अमूल्य योगदान दे रही है।

## सन्दर्भ सूची


1. लक्ष्य-संगीत अंक-4, सम्पादक-रातंनजनकर, श्री श्री कृष्ण नारायण (बम्बई-श्री चिदानन्द डी. नगरकर-मार्च-1958) पृ.सं.-91
2. अंतर्मन का संगीत, वर्मा, डॉ. अमित कुमार (नई दिल्ली-कनिष्क पब्लिसर्श, डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण-2.12), पृ.सं.-79
3. भारतीय संगीत से गुरु-शिष्य परम्परा और संस्थागत संगीत शिक्षा, परचुरे, डॉ संतोष दत्तात्रयराव, नारायण, डॉ. (श्रीमती) पुष्पम (वाराणसी-कला एवं धर्म शोध संस्थान, प्रथम संस्करण-2013) पृ.सं.-17
4. शास्त्रीय संगीत शिक्षा : समस्याएं एवं समाधान, सम्पादक-पलनीटकर, डॉ. अलकनन्दा (नई दिल्ली-अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण-2006

# विदुषी गिरिजा देवी जी का चैती गायन

अंकू सिंह

हिन्दुस्तानी संगीत जगत में अनेकों संगीतज्ञ व कलाकारों ने जन्म लिया जिन्हें सहज ही देश ने कला गौरव की श्रेणी प्रदान की है। इसमें एक नाम शास्त्रीय संगीत की सर्वाधिक लोकप्रिय, सुप्रतिष्ठित गायिका काशी की श्रीमती गिरिजा देवी जी का था जिनके मधुर कंठ से सम्पूर्ण देश ही नहीं, अपितु विदेश के लाखों संगीत प्रेमी भी सुपरिचित हो चुके हैं। उनकी गायकी को पहचानने वाले ये जानते हैं कि उन्होंने ठुमरी को जो भी ऊँचाई दी हो परन्तु वे लोक, लोक धुनों, गीतों की रची-बनीं और उसी में गुथी-सनी थी। उन्होंने लोक गीतों की सहजता के भीतर बसी जटिलता, उल्लास के भीतर भी मौजूद रहने वाले दुःख के धागों को गा पाने की कला को साधा था। न केवल कला में बल्कि जीवन में भी। वे लोक गीतों में चैती, कजरी, होरी, सावनी ही नहीं उन लोकगीतों को भी उसी ऊंचाई से गाती थीं। जिन्हें विज्ञ जन जानते भी न होगें। गिरिजा देवी जी को उनके बनारसी अंदाज के लिये भी पहचाना जाता था। ठुमरी, कजरी, चैती तथा अन्य विधाओं के गायन में बनारस का खास लहजा उनके गायन की विशिष्टता है।

गिरिजा देवी जी के चैती गायन को जानने से पहले यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम चैती विधा को जान लिया जाये।

चैती उत्तर प्रदेश का चैत माह पर केन्द्रित लोक गीत है। चैती को अर्ध-शास्त्रीय गीत विधाओं में भी सम्मिलित किया जाता है तथा उपशास्त्रीय बंदिशें गाई जाती हैं। चैत कृष्ण प्रतिप्रदा यानी होली की रात बारह बजे से चैती गान आरम्भ हो जाता है। चैत के महीने में गाये जाने के कारण इस गीत का नाम चैत या चैती पड़ गया। लोकगीतों के अन्य जितने भी प्रकार हैं उनमें माधुर्य सुन्दरता एवं कोमलता की दृष्टि से चैती का एक विशेष स्थान है। चैती गीत भी लोकगीतकार की सहज स्वाभाविक आयु-रचना है जो अनायास ही एक कंठ में आकर लोक में प्रचलित हो गई है। चैती की गाथा कृषि-प्रधान देश में निश्चित रूप से खेत-खलियानों से सबन्धित है। फसल तैयार होने के बाद जब अनाज घर में आ जाता है और उसी समय लोग आश्वस्त होकर उमंग में गाते हैं और यहीं से होता है चैती गायन का प्रारम्भ अधिकांशतः इन गीतों में ऋतु वर्णन के साथ विरह की स्पष्ट झलक दिखाई देती है तथा साहित्य में भगवान राम का स्मरण निहित होता है। इन गीतों की धुनों में कुछ विशेष रागों के स्वरों का मिश्रण होता है तथा विविध आयामों द्वारा इनमें सौन्दर्य का संचार किया जाता है। अधिकांशतः ये धुनें, काफी, पहाड़ी, पीलू आदि रागों पर आधारित होती है। इसलिए इनकी गणना उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत भी की जा सकती है। इस विधा का निर्वहन, दीपचंदी, अद्धा, त्रिताल एवं कहरवा तालों में बहुतायत से होता है। जनसाधारण को आकर्षित करने के लिए वाद्यों पर भी पर्वतीय क्षेत्र की पहाड़ के समान उत्तर प्रदेश की चैती तथा कजरी आदि लोक धुने बजाई जाती हैं।

सामान्यतया चैती गीत तीन प्रकार के होते हैं-

शोध छात्र(नेट), दयाल बाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा।

### 1. साधारण चैती

इनमें एकल एवं समूह गायन होता है इसके प्रभेद खड़ी चैती, निर्गुण चैती तथा झूमर चैती होते हैं।

### 2. झकुटिया चैती

इस प्रकार की चैती सामूहिक रूप से झाल कूटकर या बजाकर गाई जाती हैं।

### 3. घाटो चैती

इस प्रकार के चैती गीत में गायक बड़ी मस्ती से झूम-झूमकर गाते हैं इतनी तेजी से ढोल या झाल बजाते हैं कि घाटों शब्दों सार्थक प्रतीत होने लगता है।

यद्यपि गिरिजा देवी जी चैती गीत के तीनों प्रकारों से अवगत थीं किन्तु चैती की मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए उन्होंने साधारण चैती को उपशास्त्रीय शैली में निबद्ध कर चैती को अमरत्व प्रदान कर दिया जिसका आनन्द ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में समान रूप से लिया जाता है। गिरिजा देवी का होना, उपशास्त्रीय संगीत का एक बड़ा परिसर घेरता था। वे पूरब-अंग गायिकी के चौमुखी गायन का आदर्श उदाहरण थी। उन्हीं के चलते साहित्यिक रचनाओं का पहले-पहल उपयोग कजरी, चैती होरी, सावनी गायन में हो सका। गिरिजा जी ने ख्याल गायन से अपनी संगीत की यात्रा का श्री गणेश करने के बाद उन्होंने उपशास्त्रीय संगीत को ही अपना जीवन समर्पित कर दिया।

गिरिजा जी द्वारा गायी गयी उपशास्त्रीय स्वरूप में निबद्ध चैती एवं इसमें प्रयुक्त कलात्मक सोच, स्वर विन्यास एवं बोल बनाव का उदाहरण इस प्रकार है

### स्थाई

चैत मास चुनरी रंगइबे हो रामा पिया घर अईहैं

### अंतरा

1. पीत रंग लहंगा, सबुजि रंग चोलिया
   लाल रंग चुनरी, रंगइबे हो रामा
   पिया घर अइहैं
2. कर सिर अंगन भई ठाढ़ी
   हैंस हँस पिया को रिझइबे हो रामा
   पिया घर अइहै

(स्थाई) चैती

| | | | |
|---|---|---|---|
| प़ ध़ - | स - - - | ग रे - | ग ग म म |
| चै त ऽ | मा ऽ स ऽ | चु न ऽ | री ऽ रं ऽ |
| X | 2 | 0 | 3 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| गरे ग - | रे रे नि नि़ | नि़ स नि़ | स रे रे रे |
| गऽ ई ऽ | बे ऽ हो ऽ | रा ऽ ऽ | मा ऽ ऽ ऽ |
| X | 2 | 0 | 3 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| स - - | स गरे ग रे | स - नि़ | ध़ नि़ ध़ प |
| पि या ऽ | घ ऽऽ ऽ र | आ ऽ इ | हैं ऽ ऽ ऽ |
| X | 2 | 0 | 3 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| प़ ध़ - | स - - - | | |
| चै त ऽ | मा ऽ स ऽ | | |
| X | 2 | 0 | 3 |

अंतरा

| | | | |
|---|---|---|---|
| स - - | ग ग ग ग | प - - | प प प प |
| पी त ऽ | रं ऽ ग ऽ | ल हं ऽ | गा ऽ स ऽ |
| X | 2 | 0 | 3 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| म - म | म म प प | ग म म | ग - रे स |
| बु ऽ जि | रं ऽ ग ऽ | चो लि ऽ | या ऽ ऽ ऽ |
| X | 2 | 0 | 3 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| प - - | ग - - - | ग रे रे | ग म म म |
| ला ऽ ल | रं ऽ ग ऽ | चु न ऽ | री ऽ रं ऽ |
| x | 2 | 0 | 3 |
| गरे ग - | रे रे नि नि | नि़ स नि़ | स रे रे रे |
| गऽ ई ऽ | बे ऽ हो ऽ | रा ऽ ऽ | मा ऽ ऽ ऽ |
| x | 2 | 0 | 3 |
| स - - | स गरे ग रे | स - नि़ | ध़ नि़ ध़ प |
| पि या ऽ | घ ऽऽ ऽ र | आ ऽ इ | है ऽ ऽ ऽ |
| x | 2 | 0 | 3 |

विविध कलात्मक बोल बनाव

'प ध़ ग ग ग रे ग ग ग रे ग रे स नि़

चै त मा स चु न री रे ग ई ऽ बे हो ऽ

नि़ स रे ग म प म ग स - स ग रे ग रे स -

रा ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ मा मा ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽऽ -

'ग ग ग म ग रे म ग रे - स -

पि या घ र अ इ ऽ ऽ है ऽ ऽ ऽ

'स ग म प प नि ध नि म ध प ध म प म ग

रा ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ मा ऽ ऽ ऽ

ग रे रे ग म ग रे ग - रे - स -

रं ग ऽ बे हो रा ऽ ऽ ऽ मा ऽ ऽ ऽ

प्रस्तुत चैती यद्यपि किसी एक राग में निबद्ध नहीं है तथापि मिश्र पहाड़ी का आभास होता है तथा इन रागों के कतिपय विशिष्ट स्वर समुदाय इस चैती में दृष्टव्य है यथा-

राग प्रयोग-

राग मिश्र पहाड़ी

विशेष स्वर संगतियाँ

- प़ ध़ सा रे ग
- ग रे ग रे सा (ध़) (प़)
- रे सा नी़(ध़) नी़ ध़ प
- प़ ध़ सा

राग यमन का प्रयोग

विशेष स्वर संगतियाँ

- नी़ रे ग म ग रे, नी रे सा
- प म ध प
- म प ध प, म प म ग
- नी़ रे ग रे, नी़ रे सा
- मं ध नी
- प सां ऽ ऽ नी ध प म ग

राग बिलावल की छाया-

विशेष स्वर संगतियाँ

- ग रे ग प म ग, ग रे म ग
- ग म ग रे ग
- रे ग म ग रे ग
- प ग म ग रे ग, प नी ध नी

प्रस्तुत चैती में उपर्युक्त रागों में प्रयुक्त स्वर संगतियाँ कहीं अधिक तो कहीं अल्प मात्रा में प्रस्तुत की गई है। मिश्र पहाड़ी को आधार मान कर इस चैती में राग बिलावल तथा यमन का कलात्मक मिश्रण किया गया जो विदुषी गिरिजा देवी जी की अनूठी चिंतन प्रक्रिया व सृजनात्मक सोच को दर्शातें हैं।

ताल प्रयोग

प्रस्तुत चैती में दीपचन्दी ताल का प्रयोग किया है दीपचंदी ताल में 14 मात्राऐं तथा भाग 4 होते हैं पहली, चौथी, ग्यारहवीं मात्रा पर ताली एवं आठवीं मात्र पर खाली होती है।

| 1 2 3 | 4 5 6 7 | 8 9 10 | 11 12 13 14 |
|---|---|---|---|
| धा धी ऽ | धा धा तीं ऽ | ता तीं ऽ | धा धा धीं ऽ |
| X | 2 | 0 | 3 |

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विदुषी गिरिजा देवी जी का चैती गायन भले ही लोकविधा का गायन हो किन्तु इसके द्वारा शास्त्रीय तत्व, राग प्रयोग, राग मिश्रण, विविध सौन्दर्य मूलक तत्व प्रचुरता से दृष्टव्य होते हैं तथा विद्यार्थियों, शिक्षार्थियों तथा शोधार्थियों के सीखने के व्यापक मार्ग द्वार खुल जाता है।

# रुहेलखंड क्षेत्र के शैक्षिक संस्थानों में शास्त्रीय संगीत - एक विचारणीय विषय

**सविता चौहान**

प्रस्तुत विषय रुहेलखण्ड क्षेत्र की सांगीतिक दशा का अवलोकन है । प्रमाणित है कि वर्तमान रुहेलखण्ड का इतिहास लगभग 4000 वर्ष प्राचीन है। रुहेलखण्ड वह क्षेत्र है जहाँ शास्त्रीय संगीत सदैव से ही जिज्ञासा पूर्ण विषय रहा है। यह क्षेत्र नित्य नवीन आयामों को आत्मसात करता हुआ शास्त्रीय संगीत को प्रभावित करता रहा है। गायन का सबसे प्राचीन घराना रामपुर सहसवान घराना भी इसी रुहेलखण्ड क्षेत्र की देन है। जिसने गायन के क्षेत्र में अनेक गुणी विद्वान् व उत्कृष्ट कलाकार संगीत जगत को प्रदान किये हैं। वर्तमान समय शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से एक विचारणीय मुद्दा है। यदि समय रहते इस विषय पर विचार न किया गया तो शास्त्रीय संगीत को लोग मात्र इतिहास में ही पढ़ पाएंगे जबकि उसका व्यवहारिक स्वरुप अपना अस्तित्व खो देगा।

संगीत एक ऐसा भाव है जिससे आध्यात्म , संस्कार और मौलिकता जैसे उत्कृष्ट गुण मन में स्वतः ही समाहित हो जाते हैं मानव सभ्यता का विकास क्रम जितना परिवर्तनशील रहा, शास्त्रीय संगीत के विकास क्रम में भी इस विषय का पूर्ण प्रभाव देखा गया है। रुहेलखण्ड क्षेत्र भी इस विकास व परिवर्तन की क्रांति से अछूता न रह पाया इस क्षेत्र में शास्त्रीय संगीत का जो सकारात्मक व नकारात्मक स्वरुप परिलक्षित हुआ वह निश्चित रूप से विचारणीय है।

## शास्त्रीय संगीत-रुहेलखण्ड के विशेष सन्दर्भ में

यदि रुहेलखण्ड का प्राचीन इतिहास का अवलोकन किया जाये तो निश्चित रूप से इसका इतिहास अत्यंत अनूठा रहा है। जैसा कि बताया जा चुका है कि इसका इतिहास लगभग 4000 वर्ष पुराना है। प्राचीन समय में यह क्षेत्र पांचाल राज्य के उत्तरी पांचाल के रूप में, बौद्ध काल में सोलह महा जनपदों में पांचाल जनपद, मध्यकाल में कठेर तथा ब्रिटिश काल में रुहेलखण्ड के नाम से जाना जाता था। रुहेलों द्वारा इस क्षेत्र पर शासन करने के कारण ही 1930 इसवीं से यह क्षेत्र रुहेलखण्ड के नाम से जाना जाने लगा था। रुहेलखण्ड क्षेत्र का सांगीतिक इतिहास भी बड़ा रोचक रहा है। इस क्षेत्र का अपना एक मौलिक संगीत भी रहा है साथ ही शास्त्रीय संगीत का इतिहास भी अत्यंत परिवर्तनीय रहा है। कहा जाता है कि ईश्वर द्वारा प्रदत्त चौसठ कलाओं में संगीत को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है और संगीत में भी गायन, वादन और नृत्य तीनों कलाओं में से गायन को उच्चतम स्थान प्राप्त है।

शास्त्रीय गायन की दृष्टि से रुहेलखण्ड क्षेत्र की लोकप्रियता बढ़ी है गायन के सर्वप्राचीन घराने रामपुर सहसवान घराने की नींव इसी क्षेत्र में डाली गयी, सहसवान बदायूँ जिले में स्थित है जो प्रारम्भ से ही शास्त्रीय संगीत का केन्द्र बिन्दु रहा है। इस घराने के संस्थापक उस्ताद इनायत हुसैन खान थे जिन्होंने शास्त्रीय संगीत को एक विरासत के तौर पर शास्त्रीय संगीत के प्रेमियों के समक्ष रखा। इस घराने ने शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में अनेक उत्कृष्ट गायक, वादक कलाकार दिए हैं जिन्होंने न केवल भारत के कोने कोने में ख्याति अर्जित की बल्कि विदेशों में भी शास्त्रीय संगीत का परचम लहराया। भारत में शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में प्रथम पदमभूषण सम्मान प्राप्त उस्ताद मुस्ताक हुसैन खान इसी क्षेत्र

शोध छात्र /संगीत विभाग, महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्व विद्यालय चित्रकूट सतना (म. प्र.)

व घराने की देन है जिन्हें 1957 में ही यह प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी जो अपने आप में ही अद्वितीय है। वर्तमान में उस्ताद गुलाम मुस्तफा खान जिन्हें 2018 में पदमविभूषण से सम्मानित किया गया है इसी घराने की शोभा हैं। बॉलीवुड के दिग्गज गायक इन्ही के शिष्यों में शुमार हैं। अफसोस होता है कि इतने महान कलाकारों की जन्मभूमि व कर्मभूमि रहा यह रुहेलखंड क्षेत्र शास्त्रीय संगीत की अनमोल विरासत को खोने की कगार पर है शिक्षा संस्थान जहाँ शास्त्रीय संगीत एक वैकल्पिक विषय है वहाँ इस विषय की लोकप्रियता में गिरावट आयी है। उच्च शिक्षित संगीत शिक्षकों का अभाव, छात्र-छात्राओं में शास्त्रीय संगीत के प्रति अरुचि तथा संगीत सम्बन्धी व्यावसायिक उपादानों में कमी इस विषय के प्रति उदासीनता का मूल कारण है।

## रुहेलखण्ड क्षेत्र में शास्त्रीय संगीत के नवीन आयामः-

यदि विचार किया जाये तो शास्त्रीय संगीत एक ऐसी अमूर्त कला है जिसे सम्बद्ध कलाकार अपनी सतत साधना से जीवन्त करने का प्रयास करते है। ऐसे में शास्त्रीय संगीत को मात्र विषय समझना सबसे बड़ी भूल है। शास्त्रीय संगीत के प्रचार- प्रसार व उसकी गुणवत्ता को बनाये रखने के लिए उसमे नवीन आयामों को खोज कर संगीत के स्वरुप को विकसित करना सभी शास्त्रीय संगीतज्ञों व विद्वानों का विशेष कर्तव्य है लेकिन विद्यार्थियों में शास्त्रीय संगीत के प्रति रूचि व उसके स्वरुप को समझने के लिए तर्कशक्ति का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है। साथ ही वे शास्त्रीय संगीत के नवीन आयामों से परिचित भी नहीं है।

विद्यार्थियों की रूचि व शक्तिभेद के अनुसार पाठयक्रमों में परिवर्तन की आवश्यकता है। परीक्षा प्रणाली भी दोषपूर्ण है । रुहेलखंड क्षेत्र अधिकांशतः संगीत संस्थाओ, भवन, वाद्य, पुस्तकालय, एवं अन्य उपकरणों से अभावग्रस्त होता जा रहा है। संगीत शिक्षकों का मानदेय भी कम है जिसके परिणामस्वरुप वे समर्पित भाव से कार्य करने में समर्थ नहीं हैं। वर्तमान समय में संगीत विषय के अंतर्गत व्यावहारिक, व्यावसायिक व रुचिपरक उपादानों को समायोजित कर प्रारूपों की स्थापना करना आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य ही नहीं वरन आवश्यकता बन गयी है। आधुनिक तकनीक को उच्च शिक्षा हेतु कार्ययोजना एवं नवाचार में समाविष्ट करके ही व्यावहारिक प्रयोग में लाया जा सकता है।

आधुनिकता की इस दौड़ में संगीत साधना में लीन व्यक्ति भी इन भौतिक कठोरताओं के व्यास से बाहर पग नहीं रख सकता। संगीत विषय में रोजगार के अवसर अत्यंत अल्प होने के कारण इस विषय में व्यावसायिक शिक्षण अवश्यम्भावी हो गया है। आज शैक्षिक गुणवत्ता की जाँच करने वाली विभिन्न प्रतियोगिताओं के माध्यम से मूल्यांकन संस्थाएं शिक्षकों की नियुक्ति करती हैं परन्तु संगीत शिक्षकों की नियुक्ति मात्र लिखित परीक्षा से नहीं बल्कि प्रयोगात्मक परीक्षा भी आधार होना चाहिए जिसके आधार पर उत्कृष्ट संगीत शिक्षकों का चयन हो सके।

## निष्कर्ष :-

बदलते परिवेश में हर दिन दम तोड़ती जिंदगी में निर्वाह करने के लिए शास्त्रीय संगीत को मात्र अध्यात्म से जोड़ कर मोक्ष प्राप्ति का साधन मानना या मात्र मनोरंजक समझ कर उसमें दिशाहीन होकर भटकना भी संगीत प्रेमियों के लिए उचित नहीं है। आवश्यकता है कि संगीत शिक्षा का एकमात्र विकल्प संगीत विद्यालयों की स्थिति में सुधारात्मक दृष्टिकोण अपनाने की।

इस शोध-पत्र के माध्यम से मेरा उद्देश्य रुहेलखण्ड क्षेत्र में शास्त्रीय संगीत की दयनीय दशा को सुधारात्मक दृष्टिकोण प्रदान कर शास्त्रीय संगीत के जगत में नवीनता व सृजनात्मकता लाना है ताकि शास्त्रीय संगीत की सेवा में मैं अपना कुछ योगदान दे सकूँ।

## संदर्भ ग्रंथ सूची

1. पलनीतकर, अलकनन्दा, शास्त्रीय संगीत शिक्षा
2. कालेकर, सरयू, संगीत शिक्षण परिचय
3. शर्मा, भूपेंद्र, संगीत की उच्च शास्त्रीय शिक्षा
4. सिन्हल, डा. महेश चंद्र, भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्यायें
5. shodgganga.inflibnet.ac.in
6. http:èèwww.sangeetgalaxy.co.in
7. www.classicalmusicofindia.com

# संगीत कला के लयात्मक तत्व सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में

**डॉ. बृजरानी शर्मा**

परमेश्वर द्वारा प्राणि मात्र के कल्याणार्थ प्रदत्त जल, थल, वायु, धरती, आकाश, वनस्पति, फल और फूलों की भॉति, संगीत, सृष्टि और सृष्टा दोनों की मधुरतम अभिव्यक्ति है। भौतिक दृष्टि से कर्ण प्रिय संगीत मंत्रमुग्ध कर लेने वाला है। मनुष्यों को ही नहीं बल्कि पशुओं और जड़ प्रकृति को भी। शायद इस कारण गायन से पत्थर पिघलने, दीपक से अग्नि प्रज्ज्वलित और दीप के जल उठने, मल्हार से असमय मूसलाधार वर्षा तथा तोड़ी के चुम्बकीय प्रभाव से वनखण्ड के हरिणों के खिंचे चले आने की चमत्कारी प्रभाव प्रधान किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। भौतिकेत्तर रूप में संगीत ''रसौ वैसः'' की अनुभूति कराने वाली साधना है, तपस्या है। इससे भी आगे दार्शनिक स्तर पर संगीत, केवल भौतिक गुण श्रुति-मधुर ध्वनि न हो कर स्वयं परमतत्व तथा परब्रह्म है। इस कारण संगीत को ध्वनि मात्र न कहकर नादब्रह्म की परिकल्पना की गई है। नाद विश्व को जीवन देता है। बोलने की इच्छा रखने वाली आत्मा, मन को प्रेरणा देता है। मन शरीर में स्थित अग्नि को प्रज्ज्वलित करता है, अग्नि पवन को लाता है, ब्रह्मरंध्र में स्थित पवन ऊँचे उठकर नाभि, हृदय, कंठ, शरीर और मुख इन पाँचों स्थानों में अनुक्रम से ध्वनि उत्पन्न करता है। नाद सिद्धि भी मंत्र सिद्धि के समान प्रक्रिया है। यह साधक व स्वर के आपसी सम्बन्धों पर निर्भर है कि वह किस प्रकार अपने भविष्य का निर्धारण करे। यह नाद भौतिक मानसिक एवं आध्यात्मिक (तम, रज, सत) अर्थात प्रेयस से श्रेयस तक तीनों ही उपलब्धियां प्रदान कराने में सक्षम हैं। आत्मा का मूल स्वभाव नाद ही है जिसमें स्थापित होकर आत्मा, प्रत्येक दुख, तकलीफ, व्याधि, आदि से छुटकारा पाकर ब्रह्मनन्द, सहोदर, नादानंद के अवलम्बन से मोक्ष मार्गी बनती है। इसलिए नाद सर्वशक्तिमान एवं सभी पर प्रभावी है और संगीत कला का माध्यम है नाद''। जिसमें तीन रूप हैं- वैज्ञानिक तत्व, मनोवैज्ञानिक तत्व तथा सौन्दर्यमूलक तत्व। वैज्ञानिक तत्वों ने नियमों का निर्माण किया है, उन्हें ही मत कहा जा सकता है। मनौवैज्ञानिक, तत्वों का सम्बन्ध मानव-प्रतिक्रिया से है। जिसे शिव, मंगल या चित् से जाना जा सकता है और सौन्दर्यमूलक तत्व का संबंध आनंद से है। इस प्रकार सत् चित व आनंद सच्चिदानंद की प्राप्ति ही संगीत कला में सौन्दर्यानुभूति है।

सौन्दर्य तत्व की व्याख्या अनेक विचारकों ने अपने अपने ढंग से की है। इन विचारकों के तीन वर्ग हैं- एक वर्ग वह है, जिसने सौन्दर्य मूलतः अपार्थिव माना है। इसमें प्लेटो, प्लेटिनम, सेंट आगस्टीन हैं। दूसरे वर्ग के विचारकों के अनुसार सौन्दर्य वस्तु का गुण है। वह वस्तु के रूप एवं आकार में निहित है। हरबर्ट ने तो स्पष्ट कहा है कि सौन्दर्य का अपने रूप के अतिरिक्त कोई अन्य आधार नहीं है। आस्कर वार्डल्ड तथा वाल्टर पेटर इत्यादि विचारकों ने माना है कि कला के सौन्दर्य का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है। कला स्वंय में ही सिद्धि है। यह किसी अन्य प्रयोजन का साधन नहीं है। रूपवादी विचारकों ने सौन्दर्य के रूप की अभिव्यक्ति के लिए सुव्यवस्था, विविधता, एकरूपता, औचित्य, जटिलता, संयम, स्पष्टता, संगीतबद्धता, कोमलता इत्यादि तत्वों को प्रधान माना है। तीसरे के विचारक

विभागाध्यक्षा- संगीत विभाग, श्री टीकाराम कन्या महाविद्यालय, अलीगढ़। (उ.प्र.)

वे हैं, जो सौन्दर्य को भाव की अभिव्यक्ति मानते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य कलाकार के मन में है। कलाकृति में भी है और ग्राहक के मन में भी है। ये तीनों सौन्दर्यस्थल अलग- अलग नहीं हैं। इनमें पूर्ण सामंजस्य है और इसी सामंजस्य में ही सौन्दर्य है।

सृष्टि की उत्पत्ति एक विलक्षण तथा रोचक घटना है और वह एक निरन्तर विद्यमान रहस्य भी है। अनेक शोधों के उपरान्त भी कोई निर्णय नहीं हो सका है। इसी कारण, उपनिषदों ने सृष्टि, ब्रह्म, जीव तथा आत्मा को नेति अर्थात 'नइति' (इतना ही नहीं है) कहकर सम्पूर्ण व्याख्या और विश्लेषण का समाहार कर दिया। मानव सृष्टि के अंगभूत तत्वों के रूप में सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुआ। यही कारण है कि जन्म-मरण की परिधि में बंधा मनुष्य सृष्टि से ही संस्कार, बटोर कर उत्पन्न हुआ। उसने आंखों से देखा , कानों से सुना और इन्द्रियों से अनुभव किया और उसमें संस्कार बन गए। इसी कारण मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी बना और फिर वाचक प्राणी बना और इन्हीं दो कारणों से वह सामाजिक प्राणी बना। इसी कारण उसमें मनोविकार बने-सुख के दुख के वह दुख का निषेध तथा सुख-ग्रहण अपनी प्रवृत्ति के अनुसार करने लगा और संगीत तथा अन्य कलाएँ उसकी जन्म जात सहचरी बन गईं। मानव के हृदय में जो भाव एवं विचार उत्पन्न होते हैं उन्हें मनुष्य अनेक साधनों द्वारा मूर्त रूप देता है। यह मूर्तरूप जिन जिन साधनों द्वारा किए जाते हैं वे हैं मृत्तिका, प्रस्तर, काष्ट, स्वर-लहरी, शब्द आदि। इन्हीं माध्यमों से जब मानव की भावनाओं एवं विचारों की सुन्दर अभिव्यक्ति की जाती है, तब वह कला संज्ञा से अभिहित की जाती है। भाव या अनुभूति किसी के अन्तःकरण में स्थित होकर पद्यावरण धारण कर कविता कामिनी के रूप में अवतरित होता है तो वही अनुभूति या भाव कहीं चित्र, कहीं मूर्ति कहीं वास्तुकला की गोद में अपने को अर्पित कर देता है और जब यही अनुभूति या भाव कंठ के माध्यम से नाद (स्वर-लहरी) को गत्यात्मक स्वरूप देकर हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। तब हम उसे संगीत की संज्ञा देते हैं। संगीत का आनंद लेने के लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि हमें अपनी जड़ तथा स्थिर प्रवृत्तियों इच्छाओं और द्वंदों को त्याग करके, सहृदयता के साथ स्वंय को संगीत के स्वर तथा लय प्रवाह में पूर्ण रूप से समर्पित कर देना होगा तभी संगीत अपनी स्वर लहरी से हृदय को विशेष गति प्रदान करके स्वतः जीवन्मुक्त अवस्था और मादकता प्रदान करेगा। तब हमें ऐसा प्रतीत होगा कि देह का बंधन छूट गया, रस का महोदधि उमड़ पड़ा और अपने में अद्‌भुत आनंद छा गया।

अन्य ललित कलाओं की तुलना में संगीत ही ऐसी कला है, जो इच्छित भावों को प्रकट करने में अधिक समर्थ है। नाद के प्रभाव द्वारा संगीत के रस का प्रादुर्भाव होता है। मधुर तथा मुग्धकारी नाद का आस्वादन आंखे बन्द करके भी किया जा सकता है। तन्मयता के कारण ऐसा सम्भव होता है। क्योंकि संगीत-प्रेमी स्थूल हृदय एवं स्थिर जगत को विस्मृत कर श्रव्य, सूक्ष्म और तरल जगत में प्रविष्ट हो जाता है। चित्र मूर्ति आदि जैसी स्थूल आकृति में तन्मय होने की अपेक्षा नाद के तरल प्रवाह में तन्मय हो जाना अधिक सुगम होना स्वाभाविक है। भारतीय दर्शन में सौन्दर्य, चैतन्य का आनन्द है यानि सत्-चित-आनन्द 'सच्चिदानन्द' यही है उस परम सुन्दर नाद ब्रह्म का आनन्द। जब सौन्दर्य अनुभूति परक है तो उसमें विद्यमान रस से ही अनुभूति होना स्वाभाविक है क्योंकि सौन्दर्य में जो लावण्य है वही तो रस है। लावण्य सौन्दर्य का ही अभिप्राय है।

संगीत द्वारा श्रोताओं के हृदय में स्थित उनके राग- द्वेष इत्यादि का शमन करके उन्हें आनन्द मात्र की अनुभूति कराई जा सकती है। संगीत का मूल आधार स्वर तथा लय है जो नाद तथा गति के परिष्कृत रूप हैं। आकाश का गुण शब्द है वही गति के प्रभाव से वायु, जल, अग्नि तथा पृथ्वी का रूप धारण कर पंच तत्व बनता है। तब समस्त सृष्टि का व्यवहार आगे बढता है अतएव यह सृष्टि नाद एवं गति का ही परिणाम है। संगीत का सम्बन्ध इन्हीं सूक्ष्म तत्वों से होने के कारण जब उसने कला का रूप धारण किया तो समस्त जगत को मोह लिया।

संगीत शब्द की व्युत्पत्ति करें तो उसका अर्थ होता है, सम्यक गीत (भली भॉति गाया हुआ) इस प्रकार वाद्य और नृत्य का अर्थ इसमें नहीं। लेकिन रूढ़ि के द्वारा संगीत शब्द ने वाद्य और नृत्य को भी अपने अंदर समेट लिया, क्योंकि वाद्य हो या नृत्य ये

अपने में स्वतंत्र नहीं, वाद्य का काम गीत का अनुकरण करना है और नृत्य का काम गीत का उपरंजन करना है। इसलिए 'गीत' उसमें प्रधान है और जब कहते हैं सम्यक गीत तो उसका अर्थ होता है गले से गाया हुआ, वाद्य के द्वारा उसका किया गया अच्छा अनुकरण और नृत्य के द्वारा किया हुआ उसका उपरंजन। सृष्टि का समस्त अन्तर वाह्य व्यापार गति के शाश्वत नियमों में बंधा हुआ है इसीलिए जब हम संगीत अथवा अन्य किसी भी विधा में गति के उस शाश्वत विधान की प्रतिष्ठा कर पाते हैं तो हम स्वभावतः संतोष शांति तथा पूर्णता की भावना से ओत प्रोत हो उठते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कला तभी प्राणवान होती है जब उसमें लय समाहित हो जाती है किन्तु यदि लय लेश मात्र भी अव्यवस्थित हो जाए, तो उस कला का जीवंत रहना असम्भव हो जाता है। उदाहरणार्थ- एक प्रतिभावान गायक वादक या नर्तक अपने तो घण्टे के प्रस्तुतिकरण में खूब कुशलता से लय के साथ लडंत-भिडंत करता है, परन्तु मात्र एक बार सम से चूक जाने पर यह क्षणिक चूक उसकी प्रतिभा के लिए प्रश्न चिह्न बन सकती है, उसी प्रकार रंग रेखा में पूर्ण सामंजस्य भरे चित्र में किसी प्रकार की लयविहीनता (असमंजसता) रह जाए, तो वह चित्र के प्रभाव को न्यून कर सकती है।

अन्त में मैं यह कहना चाहूँगी कि कला कोई भी हो सच्चा कलाकार अपनी अन्तः प्रेरणा से संचालित होता है वह अपनी अंतरात्मा की तृप्ति के लिए ही अपनी कला का प्रयोग करता है रस की अखण्ड सौन्दर्यात्मक अनुभूति जिससे प्राप्त ब्रह्मानन्द में ही है कला की पूर्णता।

संगीत का सौंदर्य नाद और लय के सूक्ष्म तत्वों पर आधारित होता है। ये तत्व संगीत में प्राण की प्रतिष्ठा करते हैं श्रुति को स्वर, स्वर को राग और राग को रस में परिणत करके उत्साह विनोद, मादकता, करूणा, चिन्ता एवं उत्सुकता- इत्यादि को उभार कर प्राणी को तन्मय कर देते हैं। तन्मय कर देने वाले इस सौन्दर्य बोध पर बहुत कम लोगों ने विचार किया है, इसीलिए शास्त्रीय संगीत आज हमें प्रभावित करने में असमर्थ है। विज्ञान वैचित्र्य से प्रभावित हो रहा है और सहृदय उसमें सौन्दर्य के तत्वों को खोज रहा है। अभिष्ट की उपलब्धि आज के परिवेश में कब और कैसे होगी कहना मुश्किल है।

# मैथिल कोकिल विद्यापति एवं उनके संस्कार गीत

**डॉ. नीरजा दास**

महाकवि विद्यापति का जन्म वर्तमान मधुबनी जनपद के बिस्पी नामक गाँव में एक सभ्रान्त मैथिल ब्राह्मण गणिपति ठाकुर (इनके पिता का नाम) के घर हुआ था। बाद में यशस्वी राजा शिवसिंह ने यह गाँव विद्यापति को दानस्वरुप दे दिया था। इस दानपत्र की प्रतिलिपि आज भी विद्यापति के वंशजों के पास है जो आजकल सौराठ नामक गाँव में रहते हैं। उपलब्ध दस्तावेजों एवं पंजी-प्रबन्ध की सूचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि अभिनव जयदेव विद्यापति का जन्म ऐसे यशस्वी मैथिल ब्राह्मण परिवार में हुआ था, जिस पर विद्या की देवी सरस्वती के साथ लक्ष्मी की भी असीम कृपा थी। इस विख्यात वंश में एक-से-एक विद्वान, शास्त्रज्ञ, धर्मशास्त्री एवं राजनीतिज्ञ हुए। महाकवि के वृहप्रपितामह देवादिव्य कर्णाटवंशीय राजाओं के सन्धि, विग्रहिक थे तथा देवादिव्य के सात पुत्रों में से धीरेश्वर, गणेश्वर, वीरेश्वर आदि महराज हरिसिंहदेव की मंत्री परिषद् में थे। इनके पितामह जयदत्त ठाकुर एवं पिता गणपति ठाकुर राजपण्डित थे। इस तरह पाण्डित्य एवं शास्त्रज्ञान कवि विद्यापति को सहज उत्तराधिकार में मिला था। अनेक शास्त्रीय विषयों पर कालजयी रचना का निर्माण करके विद्यापति ने अपने पूर्वजों की परम्परा को ही आगे बढ़ाया।

ऐसे किसी भी लिखित प्रमाण का अभाव है जिससे यह पता लगाया जा सके कि महाकवि कोकिल विद्यापति ठाकुर का जन्म कब हुआ था। यद्यपि महाकवि के एक पद से स्पष्ट होता है कि लक्ष्मण-संवत् 293, शाके 1324 अर्थात् मन् 1402 ई. में देवसिंह की मृत्यु हुई और राजा शिवसिंह मिथिला नरेश बने। मिथिला में प्रचलित किंवदन्तियों के अनुसार उस समय राजा शिवसिंह की आयु 50 वर्ष की थी और कवि विद्यापति उनसे दो वर्ष बड़े, यानी 52 वर्ष के थे। इस प्रकार 1402-52,1350 ई. में विद्यापति की जन्मतिथि मानी जा सकती है। लक्ष्मण-संवत् की प्रवर्तन तिथि के सम्बन्ध में विवाद है। कुछ लोगों ने सन् 1109 ई. से, तो कुछ ने 1119 ई. से इसका प्रारंभ माना है। स्व. नगेन्द्रनाथ गुप्त ने लक्ष्मण-संवत् 293 को 1412 ई. मानकर विद्यापति की जन्मतिथि 1360 ई. में मानी है। ग्रियर्सन और महामहोपाध्याय उमेश मिश्र की भी यही मान्यता है। परन्तु श्रीब्रजनन्दन सहाय ''ब्रजवल्लभ'' श्रीराम वृक्ष बेनीपुरी, डॉ. सुभद्र झा आदि सन् 1350 ई. को उनका जन्मतिथि का वर्ष मानते हैं। डॉ. शिवप्रसाद के अनुसार ''विद्यापति का जन्म सन् 1374 ई. के आसपास संभव मालूम होता है।'' अपने ग्रन्थ विद्यापति की भूमिका में एक ओर डॉ. विमानविहारी मजुमदार लिखते है कि ''यह निश्चिततापूर्वक नहीं जाना जाता है कि विद्यापति का जन्म कब हुआ था और वे कितने दिन जीते रहे'' और दूसरी ओर अनुमान से सन् 1380 ई. के आस पास उनकी जन्मतिथि मानते हैं।

## विद्यापति के सामान्य व्यक्तित्व एवं कृतित्व

विद्यापति भारतीय साहित्य की 'शृंगार-परम्परा' के साथ-साथ 'भक्ति-परम्परा' के भी प्रमुख स्तंभों में से एक और मैथिली के सर्वोपरि कवि के रूप में जाने जाते हैं। इनके काव्यों में मध्यकालीन मैथिली

Guest Teacher श्री अरिवन्द महिला कॉलेज, काजीपुर, पटना

भाषा के स्वरूप का दर्शन किया जा सकता है। इन्हें वैष्णव् शैव और शक्ति-भक्ति के सेतु के रूप में भी स्वीकार किया गया हैं। मिथिला के लोगों को 'देसिल बयना सबजन मिट्ठा' का सूत्र देकर इन्होंने उत्तरी-बिहार में लोकभाषा की जनचेतना को जीवित करने का महानप्रयास किया है।

मिथिलांचल के लोक व्यवहार में प्रयोग किये जाने वाले गीतों में आज भी विद्यापति की श्रृंगार और भक्ति-रस में रची रचनाएँ जीवित हैं। पदावली और कीर्ति लता इन की अमर रचनाएँ हैं। मैथिल कवि कोकिल, रसासिद्ध कवि विद्यापति, तुलसी, सूर, कबीर, मीरा सभी से पहले के कवि हैं। अमीर खुसरो यद्यपि इनसे पहले हुए थे। इनका संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश एवं मातृ भाषा मैथिली पर समान अधिकार था। विद्यापति की रचनाएँ संस्कृत, अवहट्ट, एवं मैथिली तीनों में मिलती हैं।

देसिल वयना अर्थात मैथिली में लिखे चंद पदावली कवि को अमरत्व प्रदान करने के लिए काफी है। मैथिली साहित्य में मध्यकाल के तोरणद्वार पर जिसका नाम स्वर्णक्षर में अंकित है, चौदहवीं शताब्दी के संघर्षपूर्ण वातावरण में उत्पन्न अपने युग का प्रतिनिधि मैथिली साहित्य-सागर का वाल्मीकि-कवि कोकिल विद्यापति ठाकुर। बहुमुखी प्रतिमा-सम्पन्न इस महाकवि के व्यक्तित्व में एक साथ चिन्तक, शास्त्रकार तथा साहित्य रसिक का अद्‌भुत समन्वय था। संस्कृत में रचित इनकी पुरुष परीक्षा, भू-परिक्रमा, लिखनावली, शैवसर्वश्वसार प्रमाणभूत पुराण-संग्रह, गंगा वाक्यावली, विभागसार, दानवाक्यावली, दुर्गाभक्तितरंगिणी, गयापतालक एवं वर्षकृत्य आदि ग्रन्थ जहाँ एक ओर इनके गहन पाण्डित्य के साथ युगद्रष्टा एवं युगस्रष्टा स्वरुप का साक्षी है तो दूसरी तरफ कीर्तिलता, एवं कीर्तिपताका महाकवि के अवहट्ट भाषा पर सम्यक ज्ञान के सूचक होने के साथ-साथ ऐतिहासिक साहित्यिक एवं भाषा सम्बन्धी महत्व रखनेवाला आधुनिक भारतीय आर्य भाषा का अनुपम ग्रन्थ है। परन्तु विद्यापति के अक्षम कीर्ति का आधार, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मैथिली पदावली जिसमें राधा एवं कृष्ण का प्रेम प्रसंग सर्वप्रथम उत्तरभारत में गेय पद के रुप में प्रकाशित है। इनकी पदावली मिथिला के कवियों का आदर्श तो है ही, नेपाल का शासक, सामंत, कवि एवं नाटककार भी आदर्श बन उनसे मैथिली में रचना करनेवाले लगे बाद में बंगाल, असम तथा उड़ीसा के वैष्णवभक्तों में भी नवीन प्रेरण एवं नव भावधारा अपने मन में संचालित कर विद्यापति के अंदाज में ही पदावलियों का रचना करते रहे और विद्यापति के पदावलियों को मौखिक परम्परा से एक से दूसरे लोगों में प्रवाहित करते रहे।

कवि कोकिल की कोमलकान्त पदावली वैयक्तिकता, भावात्मकता, संक्षिप्तता, भावाभिव्यक्तिगत स्वाभाविकता, संगीतात्मकता तथा भाषा की सुकुमारता एवं सरलता का अद्‌भुत निर्देशन प्रस्तुत करती है वर्ण्य विषय की दृष्टि से पदावली अगर एक तरफ से इनको रससिद्ध, शिष्ट एवं मर्यादित श्रृंगारी कवि के रुप में प्रेमोपासक, सौन्दर्य पारखी तथा पाठक के हृदय को आनन्द विभोर कर देने वाला माधुर्य का स्रष्टा, सिद्धहस्त कलाकार सिद्ध करती है तो दूसरी ओर इन्हें भक्त कवि के रुप में शास्त्रीय मार्ग एवं लोकमार्ग दोनों में सामंजस्य उपस्थित करने वाला धर्म एवं इष्टदेव के प्रति कवि का समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय देने वाला एक विशिष्ट भक्त हृदय का चित्र उपस्थित करती है साथ ही साथ लोकाचार से सम्बद्ध व्यावहारिक पद प्रणेता के रुप में इनका मिथिला की सांस्कृतिक जीवन का कुशल अध्येता प्रमाणित करती है। इतना ही नहीं, यह पदावली इनके जीवन्त व्यक्तित्व का भोगा हुआ अनुभूति का साक्षी बन समाज की तात्कालीन कुरीति, आर्थिक वैषम्य, लौकिक अन्धविश्वास, भूत-प्रेत, जादू-टोना, आदि का उद्‌घाटक भी है। इसके अलावे इस पदावली की भाषा-सौष्ठव', सुललित पदविन्यास, हृदयग्राही रसात्मकता, प्रभावशाली अलंकार, योजना, सुकुमार भाव व्यंजना एवं सुमधुर संगीत आदि विशेषता इसको एक उत्तमोत्तम काव्यकृति के रुप में भी प्रतिष्ठित किया है। हालांकि यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि महाकवि विद्यापति अपनी अमर पदावली के रचना के लिए अपने पूर्ववर्ती संस्कृत कवियों खासकर भारवि, कालिदास, जयदेव, हर्ष अमरुक, गोवर्द्धनाचार्य आदि से कम ऋणी नहीं हैं। क्योंकि जिस विषयों को मौलिकता इसमें निहित है कि इन्होंने उन रचनाओं की विषय उपमा अलंकार परिवेश आदि का

अन्धानुकरण न कर उसमें अपने दीर्घ जीवन का महत्वपूर्ण एवं मार्मिक नानाविध अनुभव एवं आस्था को अनुस्यूत कर अप्रतिम माधुर्य एवं असीम प्राणवत्ता से युक्त मातृभाषा में यो प्रस्तुत किया कि वह मानव के हृदय में प्रवेश कर जाता है। यही कारण है कि महाकवि की काव्य प्रतिमा की गुञ्ज मात्र मिथिलांचल तक नहीं अपितु समस्त पूर्वांचल में, पूर्वांचल में भी क्यों समस्त भारतवर्ष में, समस्त भारतवर्ष में ही क्यों अखिल विश्व में व्याप्त है। राजमहल से लेकर पर्णकुटी तक में गुंजायमान विद्यापति का कोमलकान्त पदावली वस्तुतः भारतीय साहित्य की अनुपम वैभव है।

विद्यापति के प्रसंग में स्वर्गीय डॉ. शैलेन्द्र मोहन झा की उक्ति वस्तुतः शतप्रतिशत यथार्थ है। वे लिखते हैः 'नेपालक पार्वत्य नीड़ रटओ अथवा कामरुपक वनवीचिका, बंगालक शस्य श्यामला भूमि रहओ अथवा उतकलक नारिकेर निकुंज, विद्यापतिक स्वर सर्वत्र समान रुप सँ गुंजित होइत रहैत छनि। हिनक ई अमर पदावली जहिनी ललनाक लज्जावृत कंठ सँ, तहिना संगीतज्ञक साधित स्वरसँ, राजनर्तकीक हाव-भाव विलासमय दृष्टि निक्षेपसँ, भक्त मछलीक कीर्तन नर्तन सँ वैष्णवीक एकताराक झंकारसँ निःसृत होइत युग-युगसँ श्रोतांगणकें रस तृप्त करैत रहल अछि एवं करत। मिथिला मैथिलक जातीय एवं सांस्कृतिक गारिमाक मान-बिन्दु एवं साहित्यिक जागरणक प्रतीक चिन्हक रूप में आराध्य एवं आराधित महाकवि विद्यापतिक रचना मध्यकालीन मैथिली साहित्यक अनुपम निधि आछि तहिना मध्यकाल में रचित समस्त मैथिली साहित्य सेहो हिनके प्रभावक एकान्त प्रतिफल अछि।''

## विद्यापति के गीत

गीति-काव्य के उपर्युक्त विवेचन और उससे उपलब्ध तत्वों को दृष्टि में रखकर विद्यापति के गीतों का विश्लेषण करने पर उसकी बहुत-सी विशेषताओं और त्रुटियों का पता चलता है। विद्यापति के गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है संगीतात्मकता। संगीत गीतों में दो प्रकार से संलक्ष्य हो सकता है। एक तो यह है कि वे गीत विभिन्न वाद्यों के साथ किसी प्रणाली में गाये जा सकते हों, दूसरा यह कि संगीत की मूलभूत विशेषता यानी लय और उसकी आत्मा की गीतों में अवस्थिति। स्पष्टतः यों कहा जा सकता है कि बहुत से गीत शास्त्रीय संगीत में गाये जाकर या कवि द्वारा निश्चित राग-रागिनी में आबद्ध होकर संगीत का विषय बनते हैं। किन्तु बहुत से गीत ऐसे है, जिन्हें असंगीतज्ञ मनुष्य भी अपने मन में दुहराकर उनकी लयमयता से, उनके भीतर निहित संगीतात्मक तत्त्व से आनन्द प्राप्त करता है। विद्यापति स्वयं एक बहुत बड़े संगीतज्ञ थे, मैं गायक नहीं कहती, क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता वैसे अपने बहुत से पदों के अन्त में वे सर्वत्र 'विद्यापति कवि गाओल' ही लिखते हैं। गीत की जानकरी का पता दो प्रकार से चलता है। एक तो कवि ने अपने गीतों के लिये राग रागिनियों का निर्णय कर दिया है-डॉ. सुभग झा द्वारा सम्पादित विद्यापति-गीत-संग्रह में जितने भी पद दिये हुए हैं, वे सभी राग-बद्ध हैं। इस संग्रह के आरमिक 56 गीत मालव राग में, 57 से 130 तक के गीत छनछरी राग में, 131 से 135 तक आसावरी राग में, 136 से 146 तक मालारी राग में 14वाँ सामरी राग में, 148 से 154 तक अहिरानी राग में, 155 से 157 तक केदार राग में, 158 से 262 तक कानड़ा राग में,263 से 184 तक कोलर राग में, 186 से 202 तक सारंगी राग में, 203 से 207 तक गुंजरी राग में, तथा आगे भी कई पद बसंत विस, नाटराग, ललित, वरली आदि रागों में दिये हुए हैं। ये राग कवि द्वारा निर्धारित हो सकते हैं, किसी दूसरे संगीतज्ञ द्वारा भी ये रागबद्ध किये गए, ऐसा भी हो सकता है।

## विघापति के कुछ गीतः-

राग-काफी (नोंक-झोक)

*(1) कुंज भवन सँय निकसलि रे*
*रोकल गिरधारी*
*एकहिं नगर बस माधव रे*
*जनकिर बाटमारी*
*छाड़ कन्हैया मोर आँचर रे*
*फाटत नव सारी*
*अपजस होएत जगत भरि रे*
*जनि करिअ उधारी*
*सँग क सखी अगुआइल रे*

*हम एकसरि नारी*
*दामिनी आए तुलाइल रे*
*एक राति अँधियारी*

*(2) गीत*

*मोरा अँगनवाँ चनन केरि गछिया*
*ताहि चढ़ कुररय काग रे*
*सोने चोंच बाँधि देब तोयँव वायस*
*जयों पिया आवत आज रे*
*गावह सखि सब झूमर लोरी*
*मदन अराधन जाउँ रे*
*चहूँ दिसि चम्पा मओली फूलल*
*वान इजोरिया रात रे*
*कइसे कय मोयँ मयन अराधव*
*होइति बड़ि रति सात रे*
*विद्यापति कवि गाएब तोहर*
*पहुं अछ गुनक निधाान रे*
*राओ भगीसर सब गुन आगर*
*पदमा देइ रमान रे*
*वसंत गीत*

## राग-बहार गीत

*नव वृन्दावन नव नव तरु गन, नव नव विकसित फूल*
*नवल बसंत नवल मलयानिल मातल नव अलि कूल।*
*विहरइ नवल किसोर।*
*कालिंदी-पुलिन, कुज बन सोभन नव नव प्रेम विभेर।*
*नवल रसाल-मुकुल-मधु मातल, नव कोकिल कुल गाय।*
*नवयुवती गन चित उमताअई, नव रस कानन धाय।।*
*नव जुबराज नवल बर नागरि, मीलए नव नव भाँति।*
*निति निति ऐसन बर नव खेलन, विद्यापति मति माति।*

नव=नया; मातल=उन्मत्त हुआ; कालिंदी=यमुना; पुलिन=किनारा; चित=चित; उमताअई=उचता रहा है; मीलए=मिलते हैं, निति=नित्य; मति=बुद्धि;

## गीत

*चानन भेल विसम सर रे*
*भूसन भेल भारी।*
*सपनहुँ नहिं हरि आएल रे*
*गोकुल गिरधारी।।*
*एकसर ठाड़ कदम-तर रे*
*पथ हेरथि मुररी।*
*हरि बिनु देह दगध भेल रे*
*झामरु भेल सारी।।*
*जाह जाह तोहें मधुपुर जाहे।*
*चन्द्रवदनि नहिं जोउति रे*
*बध लागत काहे।।*
*भनहिं विद्यापति तन मन दे*
*सुन गुनमति नारी।*
*आज आओत हरि गोकुल रे*
*पथ चलु झटझारी।।*

*चानन=चन्दन; विसम=दुसह; भूसन=भूषण; एकसर=अकेले; झामरु=मलिन; झटझारी=शीघ्र।*

## विषहरा गीत

*विषहरि मैया सुनु मिनती हमार*
*राम हरहुँ संकष्ट मोही करियै गोहारी।*
*जोड़ा छागर देव डांट लागल पान*
*राम बान्ही देव गइबर करू विश्राम।*
*बेलपत्र हरियर अरहुल लाल*
*राम चम्पा फूल शोभिन माँ के गले में हार।*
*पहिरी ओढ़ीय विषहरि भय गेलीकार*
*राम सूर्यक ज्योति मालीन केने जाय।*
*भनहि विद्यापति सुनु विषहरि माई*

## भक्ति परक गीत

*जय-जय भैरवि असुर भयाओनि*
*पशुपति भामिनि माया*
*सह यशुमति वर देअओ गोसाउनी*
*अनुगति गत तुअ पापा।*
*बासर रैनि सवासन शोभित*
*चरण चन्द्रमणि चूड़ा*
*कतओक दैत्य मारि मुख में ललि*
*कतओ उगलि केलि कूड़ा*
*सामर वरन नयन अनुरंजित*
*जलद योग फूलू कोका*
*कट-कट-विकटे ओट पुट पांडडि*
*लिधुर फेन उठ फोंका।*
*जय-जय.... ।*

*धन-धन घनन घुँघडु कटिऽबाजय*
*हन-हन कर तुअ काता।*
*विद्यापति कवि तुअ पद सेवक*
*पुत्र विसख जनु माता।*
*जय.....।*

## गीत

*कनक-भूधर -शिखर वासिनी*
*चन्द्रिकाचय चारु हासिनी*
*दसन कोटि विकासबंकिम*
*तुलित चन्द्रकले।*
*क्रुद्ध सुररिपु बलनिपातिनि*
*महिस शुम्भनिसुम्भ घातिनी*
*भीत भक्त भयापनोदन*
*पाटल प्रबल।।*
*जय देवि दुर्गे दुरिततारिनि*
*दुर्ग मारि विमर्दे कारिनि*
*भक्तिनम्र सुरासुराधिप*
*मंगलाय-तरा*
*गगनमण्डल गर्भगाहिनि*
*समरभूमिसु सिंहवाहिनि*
*परसु-पास-कृपानसायक*
*संख-चक्रधर।।*
*अष्ट भैरवि संगमालिनि*
*दनुजसोनि-पिसित-वर्द्धित*
*पारना-रभसे।*
*ससारबन्ध निदानमोचिनि*
*चन्दभानुकूसानु लोचिनि*
*योगिनीगन गीत-शोभित*
*नृत्यभूमि रसे।।*
*जगति पालन जननमारन*
*रूप कार्य सहस्र कारन*
*हरिविरंचि महेस सेखर-*
*चुम्ब्यमान-पद।*
*सकल पापकला परिच्युति*
*सुकवि विद्यापति कृत स्तुति*
*तोसिते सिवासिंध भूपति*
*कामना फलदे।।*

कनक-मूधार-शिखार=सुमेरु शिखर; चन्द्रिकाचय=ज्योत्स्ना समूह; दसन कोटि विकास बंकिम=जिसके अधर की वंकिम स्मिति; तुलित चन्द्रकले=द्वितीया की चन्द्रकला की तरह है; भयापनोदन=भय दूर करनेवाली। पाटल पटु, कुशल; कृत्तकपालकदम्ब मालिनि=कटे हुए सिर की कदम्बमाला धारण करनेवाली। सोनित=शोणित, रक्त; पिसित=मांस; वर्द्धित=चबानेवाली।

## संदर्भः-

1. रागतरंगिनी - लोचन कवि
2. विद्यापति - डॉ. शिवप्रसाद सिंह
3. विद्यापति गीत-शती - उमानाथ झा

# संगीत, हृदय की गहराई का मापक यंत्र

**डॉ. सुरेन्द्र कुमार**

प्रकृति अपने उदर में क्या-क्या रखती है, कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। सभी अपने-अपने जीवन में, मन प्रकृति, प्रकृति की प्रकृति, जहाँ हृदय अपना दुःख-सुख, भाव-प्रवण आत्म-निवेदन फिज़ा की रंगत, वाग्ड्विद्ग्धता, वादियों की थिरकन, बादल का चुम्बन, सबके लिए एक 'कहन' उसकी लयात्मकता झूमने की सरसता, समग्र भाव धारा की सुरमयी वाणी हीं संगीत का अलंकरण है। बस कई जीवन बहते-बहते जंगल में आनन्दातिरेक में डुबते-उतराते हृदयगत भाषा बनकर समग्र प्राणी प्रदेश को अविछिन्न, अविरल वाक्-पटुता जो 'सम' को ढूंढ़कर कलाबाजी यानी जिह्वा की कलाबाजी करता हुआ पुनः 'सम' का दर्शन करते हुए मार्गदर्शन की भूमिका में प्राण-प्राण एक केन्द्र पर ला केन्द्रित कर देता, जहाँ मन, हृदय और मस्तिष्क उसकी अनुगूंज में प्रवाह्यमान होता रहता, वह और कोई नहीं संगीत अशरीरी सबका शरीर प्राण बन जाता। संगीत एक साधना का फल है। यह वह फल है जो पकता ही नहीं। बाल-दाढ़ी, मांस, कपोल, बदन का पोर-पोर पक जाता लेकिन वह हमेशा कच्चा रहता। कितने पक गये, गल गए विलिन हो गये पर दरबारी, यमन, भूपाली, हिंडोल, मल्हार मालकौंस आदि अन्यान्यै रागों का काफिला धरती के कोख से निकलकर बसवारी के पत्तों में, भँवरों के गुनगुन में, वर्षा के रूनझुन में जल के कलरव में, फूलों के परागण में, गगन के कतारबद्ध जीवन-गीतिका के लय गुटुरूगूँ-गुटुरूगूँ करते बिना किसी लक्ष्य के उड़ते कबूतरें यानि उनकी बारात सुरों की खोज में पक्षी सुर में गाते हैं, भौंरे गुनगुनाते हैं, किसी काव्य की प्रतिष्ठा बन और हृदय को गहरा बना देते हैं।

भावार्थ सरलार्थ और विशेषार्थ यानि समझ क्या आसान है? यह प्रश्न बनकर खड़ा हो जाता, सच संगीत एक अलौकिक धारा है जो जड़ में चेतन और चेतन को चैतन्य दूसरी भाषा में भाव विह्वल, कारूणिक, आरूणिक, विम्बक, ठाकुर, दास, साधु, गायक, मल्लिक, पंडित, उस्ताद आदि कई अलंकरणों से अलंकृत करने की सफल कामना ही नहीं क्षमता भी रखता। ऐसे में यदि यह कहा जाय की संगीत हृदय की गहराई का मापक यंत्र तो समीचीन लगता, यहीं नहीं किसी प्रेमी के प्रेम प्रदर्शन में अहम भूमिका होती। क्रोध यदि विभत्स राग है तो प्रेम उसकी नरम-नरम छुअन। एक यदि आग है तो दूसरा पानी, एक लाल-लाल ऑखें तो दूसरी हृदयगत भावों का बिम्ब यानि प्रेमाश्रु। एक पिता दूसरा माता यानि समग्र आसुरों का एक सुर, सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास और मीरा तथा उनकी संगीत परम्परा में तानसेन बैजूबाबरा, तोमर, उस्ताद, पंडित, डागर, रफी, लता, किशोर आदि।

ये सभी अपने-अपने गले के मापक यंत्र से मापते-मापते मप गए, नप गये परन्तु संगीत के गहराई का आज तक पता नहीं लगा सके। पुनः संगीत हृदय का मापक यंत्र, मौसम की तरह संगीत भी मौसमी परन्तु वर्षा काल में नदियाँ, ताल-तलई, नार-पोखर, नाला-परनाला, कुँआ, झरना सब कुछ भर जाता और ग्रीष्म में बूंद-बूंद को तरस जाता। लेकिन संगीत हर मौसम में जवान, वह नया-नया

सिक्किम विश्वविद्यालय, सिक्किम

कलेवर लेकर खड़ा, एक गया दूसरा आया, यही नहीं हर पल घड़ी अपना राग रात जवानी पर-दरबार का दरबारी, रात ढलने पर भैरव यमन अपने नूतन-नूतन नव पल्लव-बिखेरती वस्त्रौं में चॉदनी ओढ़े रात तो रात में नहाती, तो भैरव भोर में, जैसे-जैसे दिन चढ़े संगीत चढ़ती जाय, पीली सरसो की भीनी-भीनी सुगन्ध के साथ सन्त के घर बसन्त और कन्त के घर बांसुरी, पुनः आम के मंजर पर कूकती कोयल और घायल चैत का चैतन्य, अमवा के डारी पे कुहुंके कोयलिया हो रामा-, वियोग श्रृंगार अपने विप्रलभ्भी औकात में नायिका के नुपूर की अगुआई करता हुआ कि-

*कए बन बगिया, जर गईले राम ।।*
*फागुन के रंग बरसन लागे ।।।*

वन-बाग, तड़ाग, सन्ध्य-बंदंन आकाश में पक्षियों का उड़ता समूह, अमराई में कोयल की कूंक, खेतो में राई, ये सब के सब किसी नायिका यानि न्योढ़ा जिसका वस्त्र धप-धप पीला हो, हाथों में मेंहन्दी, पैरों में नुपूर पैजनी कानों में कुण्डल, आँखों में काजल, कजरारे-कजरारे, होटों पर लाली के उपर लाली, कामदेव का काममयी छुअन, सभी उद्दीपन सामग्री के बाद बसन्त की हवा-कन्त के आने का इन्तजार भला कटार का वार नहीं तो और क्या है? यही तो संयोग का वियोग है जो विप्रलभ श्रृंगार बन किसी संगीत का शीर्षक और उसकी गहराई का मापक यंत्र। शब्द भी सुरीले आवाज के चाहत के लिये बदस्तूर बावला हुआ फिरता है और आवाज भी किसी शब्द को अपने होठ पर रखने को उतावले हुआ करते जैसे -

*होटों से छू लो तुम, मेरा गीत अमर कर दो*

और संगीत यानि लयात्मकता, संगीतकार, गीतकार और गायक सबका अपना-अपना आकार, कोई साकार तो कोई निरंकार, क्या संगीत एक व्यापार ? यह तो कोई किसी से मन और हृदय विस्तार का विस्तार है। सच जीवन की नाव पर बैठा चल चला चल गाता हुआ संगीत से हृदय की गहराई ही तो मापता है, पर शायद समुद्र की गहराई मापी जा सके लेकिन संगीत की गहराई शायद ही, संगीत कोलाहल से दूर जीवन का हल, एक औषध मन की आँखें, हृदय का रस, जहां मैं पैदा लिया हूँ वह कैमूर की पर्वतमाला संगीत का वह पहला पन्ना जहां त्रेता के राम यानि रामचरित्र महाकाव्य जिसके संगीत की अविरल धारा प्रणय निवेदन राम 12 वर्षों तक पर्वतों से पर्वत उनसे संगीत छेड़ता रहा। अब भला कैसे उस हृदय की गहराई को मापा जा सकता है, हाँ मापक यंत्र यदि संगीत है तो यह संभव है, चिकित्सकों ने कई बार दैनिक समाचार पत्रों से अपने राग में यह कहा है कि हृदय रोगी यदि इस मापक यंत्र का प्रयोग, तन्हाई के आलम में बालम समझकर करे तो हकीम का दावा है कि उसका हृदय ही नहीं शरीर का अंग प्रत्यंग चिरायु होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। इसलिये शीर्षक सार्थकता अक्षुण्ण निर्वाद और सच के काफी करीब है इसलिये इसका सेवनहार गरीब है गरीब भी और अमीर भी।

# गुरमत संगीत की शबद कीर्तन चौकी परम्परा का सैद्धान्तिक स्वरूप

**प्रभजोत कौर मान**

गुरमत संगीत का आधार शास्त्रीय संगीत है। शास्त्रीय संगीत के साथ जब सिख धर्म के गुरू साहिबानों एवं पूर्वकालीन तथा समकालीन संतो, भक्तों की बाणी का सुमेल होता है तो उसे गुरमत संगीत कहते हैं। गुरू साहिबानों ने शास्त्रीय संगीत के महत्व को समझा और शास्त्रीय संगीत के साथ गुरूबाणी को जोड़ ईश्वर के दिव्य संदेश का प्रचार एवं प्रसार किया।

गुरू नानक देव जी ने सिख धर्म की स्थापना की और ईश्वर की महिमा तथा सत्य-मार्ग का संदेश कीर्तन द्वारा दिया जिसे उन्होंने रागों में पिरोया और आगे सभी गुरूओं ने इस परम्परा का अनुसरण किया। अतः जब गुरूओं, संतों, भक्तों की वाणी को शास्त्रीय संगीत नियमानुसार रागाधारित, तालाधारित कीर्तन किया जाता है तो उसे गुरमत संगीत कहते है।

गुरमत संगीत में कीर्तन करने की एक निर्धारित मर्यादा है जिसे सिख धर्म के पांचवे गुरू, गुरू अर्जुन देव जी ने संचालित किया। श्री गुरू ग्रन्थ साहिब जी की स्थापना सन् 1604 ई. को गुरू अर्जुन देव जी द्वारा हुई जिसमें उन्होनें अपने पूर्ववर्ती गुरूओ संतो की वाणी को रागों में निर्धारित कर स्थान दिया। आपने कीर्तन करने का व्यवस्थित शास्त्रीय नियम बनाया और साथ ही गायन शैली, गायन पद्धति व समय सिद्धांत का प्रतिपादन कर उसे कियात्मक रूप देकर स्थापित तथा विकसित किया जिसे शबद कीर्तन चौकी परम्परा कहा जाता है। साधारण अर्थों में गुरमत संगीत में जब गुरू की हजूरी में बैठकर निर्देशित शबद कीर्तन गायन किया जाता है तो उसे शबद कीर्तन चौकी कहा जाता है। निर्धारित राग में गुरवाणी को राग के समय अनुसार गायन करना शबद कीर्तन चौकी के अन्तर्गत आता है। कीर्तन चौकी को राग के समय सिद्धान्त अनुसार विभाजित कर शबद कीर्तन करना, शबद कीर्तन चौकी कहा जाता है।

''शबद कीर्तन चौकी की परिभाषा देते हुए कान सिंह नाभा कहते है :-1.चार रागियों की मड़ली गावत चऊकी शबद प्रकाश'' 2. भजन मंड़ली जो परिक्रमा करती हुई शबद गाए। भाई वीर सिंह जी के अनुसार गुरमत संगीत में कीर्तन जत्थे को 'चौकी' कहते हैं। चौकी कम-से कम चार व्यक्तियों की होती है जिसमें से एक महन्त दो साथी स्वर रचने वाले तथा एक जोड़ीदार (पखावजी) रहता है।इससे कम नहीं अधिक चाहे कितने ही लोग हो चौकी में गा सकते है। जैसा की श्री हरिमंदिर साहिब में विद्यमान है।''[1]

श्री गुरू अर्जुन देव जी ने गुरमत संगीत के अन्तर्गत चौकी गायन हेतु समय को चार प्रहरों में विभाजित करके चार वर्ग निर्मित किए। इन प्रहरों में रागाधारित तालाधारित शबद कीर्तन गायन को शबद कीर्तन नाम दिया गया। यह सभी चौकियाँ नौं भागों में विभाजित हैं तथा समय सिद्धांत के अनुसार निर्वाहित भी की जाती हैं जो इस प्रकार हैं :-

## प्रथम चौकी - ''तीन पहरे की चौकी''

समय के अनुसार रात्रि के 2:30 बजे से आरंभ पहली कीर्तन चौकी जो 3:30 बजे तक चलती है। इसके अन्तर्गत समय के अनुसार रागों का गायन

शोधार्थी दयालबाग ऐजूकेशनल इंस्टीट्यूट, (डीम्ड यूनिवर्सिटी) दयालबाग, आगरा।

किया जाता है। जैसे - जैजैवंती, सोरठ, आदि। (उदाहरण) - सोरठ, महला 5 घर 2, 613-14,

*''माधो तूँ ठाकुर सिर मोरा।।*
*इहा ऊहा तुहारो धोरा।।''*[12]

## द्वितीय चौकी—''आसा की वार की चौकी''

समय के अनुसार रात्रि के तीन पहरे की चौकी के बाद आसा की वार की चौकी लगती है, जिसका समय रात्रि के 3:30 से आरंभ होने वाली अमृत बेला प्रातःकाल 6:30 तक होता है। इस शबद कीर्तन चौकी में राग भैरव, रामकली, प्रभाती, आसा, गौड़ी, देवगंधारी का गायन किया जाता है। आसा की वार की चौकी में राग आसा को गाने की प्रथा है।

*(उदाहरण) - आसा (कबीर जीओ) [484]*
*करवत भला, न करवट तेरी,*
*लाग गले सुन बिनती मेरी।।1।।*
*हओ वारी मुख फेर पियारे।।*
*करवट दे मो को काहे को मारे।।1।। रहाओ।।*[13]

## तृतीय चौकी-'बिलावल की चौकी'

समय के अनुसार इस कीर्तन चौकी का समय सुबह 6:40 से लेकर 8:00 बजे तक होता है। इस चौकी में बिलावल के सभी प्रकारों को गाया जाता है।

(उदाहरण) - बिलावल (कबीर जीओ) [856]

*''दरमादे ठाड़े दरबार।।*
*तुझ बिन सुरत करै को मेरी,*
*दरशन दीजै खोल किवाड़।।1।। रहाओ।।''*[14]

## चतुर्थ चौकी - ''आंनद की चौकी''

समय के अनुसार इस कीर्तन चौकी का समय सुबह 8:00 से 10:00 बजे तक का होता है तथा समय के अनुसार राग गाए जाते हैं। (उदाहरण) -राग गौड़ (नामदेओ जी) [873-74]

*''मो कओ तार ले रामा तार ले।।*
*मैं अजान जन तरबै ना जानओ*
*बाप बीठला बांह दे ।।1।। रहाओ।।''*[15]

## पंचम चौकी - 'चरण कमल की चौक'

इस शबद कीर्तन चौकी का समय दिन 10 बजे से 4 बजे तक के प्रथम प्रहर के बाद आरंभ होता है। इसके अन्तर्गत राग तोड़ी, गूजरी, देवगधारी, सांरग, सूही, बड़हंस का गायन होता है।

*(उदाहरण) -देवगंधारी 5, 531,*
*''सरब सुखा गुर चरना।।*
*कलमल डारन मनह सधारन,*
*अह आसर मोहि तरना।।1।। रहाओ।।''*[16]

## षष्टम् चौकी - ''सोदर की चौकी''

इस शबद कीर्तन चौकी का समय सांयकालीन 4:00 बजे से लेकर 7:15 बजे तक होता है। इस कीर्तन चौकी के अन्तर्गत सांयकालीन संधिप्रकाश राग श्री, गउड़ी (गौरी), मालीगौड़ा, धनाश्री, मारू, बैराड़ी का प्रयोग होता है। (उदाहरण) - श्री राग महला 5 [44]

*''सभे थोक परापते जे आवै इस हथ।।*
*जनम पदारथ, सफल है, जे सदा शबद कथ।।*
*गुर ते महल परापते जिस लिखया होवै मथ।।1।।''*[17]

## सप्तम चौकी - ''आरती की चौकी''

आरती की चौकी का समय सोदर की चौकी के बाद आता है जो रात को 7:40 से आरंभ होती है जिसमें निर्धारित राग में आरती का गायन किया जाता है। (उदाहरण) - माझ महला 5 चौपदे घर।।1।। [96-97]

*''मेरा मन लोचे गुर दरशन ताई।।*
*बिलप करे चात्रक की नयाई।।''*[18]

## अष्टम् चौकी - ''कल्याण की चौकी''

इस शबद कीर्तन चौकी का समय रात्रि के प्रथम प्रहर के अंत होने पर आंरभ होता है। इसके अन्तर्गत राग कल्याण, नटनारायण, बिहागड़ा, केदारा, गौड़ा आते हैं। (उदाहरण) - राग नट नारायण महला 5 दौपदे [978]

*''ऊलाहनो मैं काहू न दीओ।।*
*मन मीठ तुहारो कीओ ।।1।। रहाओ।।*[19]

### नवम् चौकी -''कान्हड़े की या कीर्तन सोहिले की चौकी''

इस कीर्तन चौकी के अन्तर्गत समय के अनुसार रात्रि के राग आते हैं। इस कीर्तन चौकी का समय समाप्ति से पूर्व का होता है। (उदाहरण) - राग कानड़ा महला 5।। [1301[

*''साजना संत आओ मेरै।।1।। रहाओ।।*
*आनदा गुन गाए मंगल कसमला मिट जाए परेरै।।1।।*[10]

शबद कीर्तन की यह परम्परा गुरू साहिब के समय से चली आ रही है। गुरूद्वारों में विशेषकर श्री हरिमंदिर साहिब अमृतसर में जहां यह परम्परा निंरतर चल रही है। शबद कीर्तन चौकी परम्परा जहाँ समय सिद्धांत पर आधारित है वहीं गायन पद्धति इस परम्परा का अभिन्न अंग है जिसके चार चरण होते है:-

1. शान/लहरा :- कीर्तन शुरू करने से पहले शान या लहरा बजाने की परम्परा है। यह सुर-साज बजाने वाला साजिदा बजाता है तथा साथ ही तबला-वादक तबले पर अपनी कला का प्रदर्शन करता है।

2. मंगलाचरण :- जिसका गायन समय के रागानुसार किया जाता है। यह वंदना के समान होती है जो राग और ताल में बधीं होती है। भारतीय संगीत में इसे बड़े ख्याल की शैली कहा जाता है।

3. शबद गायन :- इसके अन्तर्गत ध्रुपद, बड़े ख्याल या छोटे ख्याल के समान शबद गायन किया जाता है। इसमें रागी अपनी शास्त्रीय संगीत की कला का प्रदर्शन कर सकते है।

4. पउड़ी (पौड़ी) :- अंत में उसी राग से सम्बन्धित वार की पउड़ी गायी जाती है। इसे रीत भी कहा जाता है।

इस प्रकार शबद का राग ताल में गायन करने के पश्चात् राग रामकली में दर्ज आनंद साहिब की पउड़ीयाँ गाकर रागी कीर्तन समाप्त करते है।

''गुरमत संगीत में विधाता की आज्ञा को वाणी के रूप में गायन करने और उस 'खसम की वाणी' के आध्यात्मिक ज्ञान को समस्त लोक में प्रसारित करने की विशाल सांगीतिक परम्परा है।''[11] ''गुरमत संगीत'' गुरू-सिद्धान्त (श्री गुरू ग्रंथ साहिब के वर्तमान स्वरूप और फिलॉसफी पर आधारित) के अनुसार निर्मित, नियोजित और विकसित संगीत परम्परा है जिसका निश्चित संगीत-प्रबन्ध और विशिष्ट प्रस्तुति-विधान है। इस संगीत परम्परा में समूचे भारतीय संगीत के रागों, गायन रूपों और सांगीतिक प्रस्तुति के भिन्न-भिन्न अंगों एवं तत्वों को गुरमत के दृष्टिकोणों से मौलिक सार्थकता, नवीन संदर्भ और विलक्षण सम्भावनाएँ प्रदान की गई है। इस कार्य का उद्देश्य उस 'खसम की वाणी' और खालक के आदेश को पूर्ण जहान के लिए सांझे रूप में प्रस्तुत करना है।''[12]

''गुरमत संगीत'' शबद कीर्तन परम्परा है, जिसका बुनियादि लक्ष्य शबद का प्रकाश है। शबद ही इसकी केन्द्रिय इकाई है। शबद रूप गुरू श्री गुरू ग्रंथ साहिब की वाणी का संकलन एंव सम्पादन भी संचार की दृष्टि से किया गया जिसके अनुसार गुरू ग्रंथ साहिब की समूची वाणी को विभिन्न रागों (राग प्रकारों और गायन तथा काव्य रूपों) के अनुसार वर्गीकृत किया गया है।''[13]

महत्व एवं उद्देश्य :- गुरू साहिब जी की समस्त वाणी रागाधारित होने का उद्देश्य यही है की शबद का संचार संगीतमय हो ताकि शबद और संगीत के मिलन से सहज ही भाव उत्पन्न हो सके जो जनसाधारण को प्रभु के दर्शन करा सके। संगीत भावों को प्रकट करने का एक सहज निर्मल एंव सरल मार्ग है जिसके साथ मनुष्य जुड़ कर आध्यात्मिक होने लगता है एंव अपने हृदय में स्थापित प्रभु को महसूस करने लगता है इसलिए गुरू साहिबानों ने मनुष्य को शबद और संगीत का यह उपहार प्रदान किया जिसे गुरमत संगीत कहते हैं।

संगीत से मनुष्य के भाव सहज ही नियंत्रित होने लगते हैं इसलिए गुरू साहिबानों ने संगीत के महत्व को समझते हुए यही उद्देश्य पूर्ण किया की मनुष्य को आध्यात्मिकता से जोड़ने के लिए, शबद की गहराई को समझने के लिए, भावों द्वारा रसोत्पत्ति के लिए, मन की तृप्ति के लिए प्रभु द्वारा दी गई दोनों वस्तुओं (संगीत और शबद) का मेल हो ताकी दोनों को पूर्णता प्राप्त हो और मनुष्य इस आलौकिक अनुभूति से जुड़ कर अपना जीवन सफल कर सके

और सत्य एवं आध्यामिक मार्ग पर चलते मोक्ष की प्राप्ति कर सके।

## संदर्भ ग्रंथ सूची :-


1. डॉ. गुरनाम सिंह - गुरमत संगीत की कीर्तन चौकी-परम्परा-संगीत गुरमत संगीत अंक जनवरी-फरवरी-1997-पृष्ठ- 96
2. अमृत कीर्तन-खालसा ब्रदर्स-पृष्ठ-177
3. वही, पृष्ठ-517
4. वही, पृष्ठ-549
5. वही, पृष्ठ-113
6. वही, पृष्ठ-611
7. वही, पृष्ठ-337
8. वही, पृष्ठ-496
9. वही, पृष्ठ-772
10. वही, पृष्ठ-562
11. डॉ. लक्ष्मीनारायण गर्ग - गुरमत संगीतः एक दिव्य अनुभूति-संगीत गुरमत संगीत अंक जनवरी-फरवरी-1997-पृष्ठ-11-12
12. डॉ. गुरनाम सिंह - गुरमत संगीतः विषय वजों पहचान ते सार्थकता-संगीत गुरमत संगीत अंक जनवरी-फरवरी-1997-पृष्ठ- 18
13. वही, पृष्ठ-18
14. रेनू सचदेव- हिन्दुस्तानी संगीत पर सिख धर्म तत्व उसके सिद्धान्तों का प्रभाव -(लेख) - धार्मिक परम्पराएँ एवं हिन्दुस्तानी संगीत-राधा पब्लिकेशन-1999
15. गीता पैन्तल-पंजाब की संगीत परम्परा- राधा पब्लिकेशन-1988

# भारतीय संगीत में अमीर खुसरो का योगदान

**डॉ. ज्योति मिश्रा**

**रितिका सिंह**

*गोरी सोवे सेज पर मुख पर दारे केस,*
*चल खुसरो घर आपने रैनभईचहुँदेस।*

खड़ी बोली हिन्दी के प्रथम कवि हज़रत अमीर खुसरो सूफ़ियाना अंदाज़ के कवि थे। इनका नाम सर्वप्रथम खुसरो न था। आपके पिता ने आपका नाम 'अबुलहसन' रखा था एवं खुसरोइनका उपनाम (तखल्लुख) था। परन्तु आगे चलकर इनका तखल्लुखही इतना प्रसिद्ध हुआ की इनका यथार्थ नाम सब भूल गए। अमीर खुसरो के नाम में 'अमीर' शब्द का भी अपना एक इतिहास है। जलालुद्दीन खिलजी ने अमीर खुसरो की कविताओं से प्रसन्न होकर इन्हें 'अमीर' के खिताब से नवाज़ा था जिसके पश्चात् ये 'मलिक्कुशोअरा अमीर खुसरो' के नाम जाने जाने लगे। अमीर खुसरो ने भारतीय संगीत की अमूल्य सेवाएं की जिससे एक नया ढ़ंग प्रचलित हुआ जिसे आज हिन्दुस्तानी संगीत के नाम से जाना जाता है।

अमीर खुसरो के पिता सैफुद्दीन, अल्तमश के काल में हिन्दुस्तान आये एवं देहली के नवाब इमाद-उल-मुल्क की पुत्री से विवाह किया। इनके तीन पुत्र हुए जिनमें मझले पुत्र अबुलहसनयमुनुद्दीन जो अमीर खुसरो के नाम से प्रसिद्ध हुए उन्हें अरबी, फारसी, तुर्की, संस्कृत एवं भारत के अन्य भाषाओं में महारत हासिल थी। दस वर्ष की अल्पायु से आप कविता लिखने लगे थे एवं आप ग्यारह सुल्तानों के राज दरबारों में उच्च पद पर आसीन हुए।

''संगीत के क्षेत्र में उन्होंने अपनी समन्वयवादी प्रकृति के अनुरूप परम्परागतभारतीय संगीत और ईरानी संगीत को मिलाकर अनेक राग-रागिनियों का आविष्कार किया। ढोलक और तबले जैसी वाद्य यंत्रों का आविष्कार कर भारतीय संगीत कला के क्षेत्र में इन्होंने ऐतिहासिक योगदान दिया।''

'दर पये जाना जाँ, हम रफ़्त, जाँ हम रफ़्त, जाँहम रफ़्त, रफ़्त-रफ़्त, जाँ हम रफ़्त, ई हम रफ़्तोआँ, हम रफ़्त, आँ हम रफ़्त, आँ हम रफ़्तआँ हमरफ़्त, ई हम आँ, हम आँ, हमरफ़्त, रफ़्तनरफ़्तन देह देहरफ्तन, देहरफ-रफ, रफ्तन देह, रफ्तन देह'।

यह खुसरो के शब्द कोष का ही चमत्कार था की धुन की आवाज सार्थक संगीत के सुरमई ध्वनि में तब्दील हो गई। अपने ग्रन्थ नूह-सिपहर में अमीर खुसरो ने लिखा है कि हिन्दुस्तानी संगीत एक आग है जो दिल और दिमाग दोनों को जलाती है एवं यह अन्य सभी देशों के संगीत से उत्तम है। उनका यह भी कहना था की भारतीय संगीत मनुष्यों को ही नहीं बल्कि जानवरों को भी मंत्रमुग्ध कर देता है। अबुलहसन ने अपने काल के संगीतज्ञों की तीन श्रेणी बनाई थी जो इस प्रकार है-

1. कलावंत हिन्दी
2. फारसी गजल गायक
3. कव्वाल

अमीर खुसरो द्वारा नवीन रागों का अविष्कार

मुहम्मद हुसैन आजाद के अनुसार खुसरो साहब की प्रकृति एक बीन के सामान थी जो बिन बजाये बज पड़ती थी। इन्होंने भारतीय रागों को ईरानी रागों से मिलाकर कई नवीन रागों का आविष्कार किया। अनेक ईरानी संगीत की धुनों को भारतीय धुनों में सम्मिलित किया। ऐसी धुनों में जिंगोला, हिजाज, नौरोज विख्यात हुए जिन्हें भारतीय संगीत

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संगीत एवं प्रदर्शनकला विभाग, शोध छात्रा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहबाद

में जंगला, हजीज एवं चंगा के नाम से जाना जाता है। इन्होंने भारतीय संगीत में कुछ धुनों का आविष्कार किया जिनमें कौल, तराना, नक्श, गुल, कल्बाना, बसीत, सुहैला आदि हैं। राग दर्पण मे फाकिरुल्लाह ने जिनका उल्लेख किया है वे राग निम्न हैं-

1. राग मुजीर- गारा और एक फारसी राग का मिश्रण है।

2. राजगिरी- पूर्वी, गौर, गुण, कली और एक फारसी राग का मिश्रण है।

3. एमन- हिंडोल में फारसी राग नौरोज मिलाया गया है।

4. उश्शाक- सारंग, बसंत और एक फारसी राग से मिलकर बना है।

5. मुआफिक- तोड़ी, मालसरी और फारसी दो गाह हुसैनी को मिलकर बनाया गया है।

6. गनम- पूर्वी को परिवर्तित किया गया है।

7. जिल्फ- खट राग में फारसी राग षेह्नाज को मिलकर बनाया गया है।

8. फरगाना- सोलह हिंदी रागों में एक फारसी राग मिलाया गया।

9. सरपर्दाह- गौड़ सारंग और बिलावल में फारसी राग रास्त को मिलकर बनाया गया है।

10. बाखार्ज- विकार में फारसी राग मिलकर बनाया गया।

11. फरोदस्त- कान्हड़ा, पूर्वी और गौरी के साथ एक फारसी राग मिलाया गया।

12. मनुअम (सगम)- राग कल्याण में एक फारसी राग मिलाया गया।

## ताल

खुसरो ने फारसी बहरो और वजनों को समक्ष रखकर जिन सत्रह तालों का आविष्कार किया वे इस प्रकार हैं- प्रश्नों, जुबहर, कव्वाली, सोलफख्ता, होरी, जला तिलाला (जत), सवारी, आड़ा चौताला, झूमरा, झपताल, खम्सा, फरोदस्त, पहलवान, कैद, दास्तान, षटताल, चपक

## ख्याल

कहा जाता है कि ख्याल भी खुसरो की ही आविष्कृत गेय शैली है जिसके लिए आपको ख्यालों का 'नायक' भी कहा जाता है। खुसरो के समय में ध्रुपद गायन शैली का प्रचलन था जो की भारतीय संगीत की एक प्राचीनतम गायन शैली है। अमीर खुसरो ने ध्रुपद के स्थान पर ख्याल गायन शैली का आविष्कार किया। हिन्दुस्तानी संगीत में ख्याल का गायन 250 से 300 वर्षों तक अत्यधिक प्रचलित हुआ मगर इसका जन्म सूफी फकीरों की खानखहों में गाई जाने वाली कव्वाली विधा से मानी जाता है। कव्वाली के अंतर्गत छः प्रकार के गाने गाये जाते हैं। कव्वाली, ख्याल, तराना, त्रिवट, सावेला तथा सावन गीत। कव्वाली सूफियों की आध्यात्मिक रचना है इसीलिए गायन में प्रयोग होने वाले ख्याल श्रृंगार रस के ना होकर आध्यात्मिक रंग में रंगें होते हैं। ख्याल के स्थाई अंतरे का रूप निम्नलिखित है-

### स्थाईः

*मेरा दुःख दूर किया, सुख दिया तुम*
*ऐसे गरीब नवाज हजरत सुल्तान जी औलिया*

### अंतराः

*तुम्हारे दरवाजे गुलाम थारो, अरज करत या हजरत महबूब अपने गरीब पर फजल लिया और दान दिया*

### तरानाः

खुसरो ने जिन तरानों का आविष्कार किया वे अर्थपूर्ण तो थे किन्तु वर्तमान में जो तराना गायकी सुनने में आती है उसमें अत्यधिक परिवर्तन आ चुका है। इसमें भी ख्याल गायन शैली की तरह दो भाग थे- स्थाई और अंतरा।

### कल्बानाः

इसमें अरबी, फारसी व हिन्दी के शब्द व विचारों का मिश्रण होता है। इसके अंतर्गत अनेक तालों का प्रयोग होता है। इसके विपरीत कौल केवल एक राग व ताल में ही होता है। कल्बाना के अंतर्गत हर टुकड़े के साथ ताल भी बदल दी जाती है जिसके कारण इसे 'तालसागर' के नाम से भी जाना जाता है। इसमें भी स्थाई व अन्तरा दो भाग ही होते हैं। उदाहरण-

स्थाईः *लकद सद कुल्लाहतआला,*
*भेजो दरूद और सलाम।*
अन्तराः *अमीर खुसरो बल-बल जावे,*
*हजरत के दरबार गावे।*

कव्वाली- यह एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका आयोजन करने को महफिल 'समाअ' कहते हैं जिसका अर्थ है सुनना या जिक्र करना। जिस स्थान पर कव्वाली आयोजन किया जाता है उसे समाखाना कहा जाता है। आचार्य बृहस्पति के कथानुसार 'कौल' का अर्थ कथन, वचन, प्रवचन, प्रतिज्ञा या विशिष्ट उक्ति है। कव्वालों की गायन शैली में गायी जाने वाली गजलें ही गेय रूप 'कव्वाली' कहलाई।

## वाद्य यंत्रों का आविष्कार-

हजरत अमीर खुसरो ने तीन वाद्य यन्त्र से सह (तीन) तार बनाया जो सितार वाद्य से प्रसिद्ध हुआ। बाद में सितार में सात तार प्रयोग होने लगे। जिस प्रकार खुसरो ने ध्रुपद गायन शैली से ख्याल शैली का निर्माण किया उसी प्रकार वीण से सितार का आविष्कार किया। सितार मंत्रमुग्ध कर देने वाला वाद्य है। 'ढ़ोलक' एवं 'तबला' भी खुसरो की ही भारतीय संगीत को देन है। भारतीय संगीत का प्राचीन वाद्य पखावज है जिसे खुसरो दो भाग में विभाजित कर तबला वाद्य का आविष्कार कियां ढोलक भी खुसरो का ही आविष्कार है जिसे पखावज का लघु रूप भी माना जाता है। ढोलक का प्रयोग औरतों के गाने बजाने में ही नहीं अपितु इसका अत्यधिक प्रयोग कव्वाली विधा में भी है। ढोलक की थाप-चाट से ही बोलों में चमक आती है।

सितार, तबला या ढोलक अन्य वाद्यों के साथ कव्वाली को गाना, और गजलों की तर्जों का रागों की बंदिशों व तालों में होना, कौल, कल्बाना, नक्श व गुल का कव्वाली में सम्मिलित होना, यह हजरत अमीर खुसरो की ही देन है इसी कारण खुसरो को इनका पोषक माना जाता है। कव्वाली को प्रचलित करने का श्रेय अमीर खुसरो को ही दिया गया है।

## संदर्भः-


1. 'तूती-ए-हिन्द' अमीर खुसरो, डॉ. राजनारायण राय।
2. सूफी संगीत राग परम्परा के सन्दर्भ में, डॉ. सुनील गोस्वामी, पृष्ठ-73
3. हजरत बमीरखुसरो का शास्त्रीय व उपशास्त्रीय संगीत में योगदान, डॉ. पंकज लाहौरा
4. राग दर्पण, फकिरुल्लाह।
5. भारत की महान विभूति-अमीर खुसरो व्यक्तित्व व कृतित्व, डॉ. परमानन्दपाँचाल, पृष्ठ 20 से 25 तक।
6. अमीर खुसरो और भारतीय संगीत-सैरूयद जहीरुद्दीनमदनी।

# शैव परम्परा में संगीत

**खूशबू कुमारी**

भारतीय संस्कृति का सबसे प्राचीन और प्रमुख धर्म सनातन धर्म है। वैदिक आर्य संस्कृति के अनुरूप ही सनातन धर्म का विकास हुआ। आगे चलकर इस धर्म में अनेक मतावलंबियों का प्रवेश हुआ, जिनमें शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सम्प्रदाय स्थापित हुए। इन सब ने अपनी-अपनी धार्मिक पूजा-अर्चना, विधियों में संगीत के विभिन्न पक्ष और विभिन्न भावों का विपुल प्रयोग किया।

पाशुपत अथवा शैव मत सनातन धर्म की सबसे प्राचीन धार्मिक पद्धति है। यह भगवान रुद्र की (शिवोपासना) परम्परा पर आधारित है। महाभारत में भी अनेक अवसरों पर पशुपति, रुद्र और पाशुपत-व्रत का उल्लेख मिलता है। शैव मतावंलवी जप, तप, ध्यान आदि कष्ट साध्यकार्यों निमग्न रहते थे तथा शिव के विकराल एवं सौम्य दोनों रूपों के पुजारी थे। शैव परम्परा का उल्लेख आते ही कपाल तथा कनेर की माला पहनने वाले, गले में नाग लटकाये हुए, शमशान में घूमने वाले जटाधारी लिंगोपासक का ध्यान सामने आता है।[1]

कश्मीर से कन्याकुमारी तक शैव मत अनेक सम्प्रदायों में विभक्त है। इनमें उत्तर भारत में काश्मीर शैवमत जंगम सम्प्रदाय, दक्षिण में नयनभार शिवभक्त, लिंगायत, वीरशैवमत, नाथपत, कर्नाटक शाक्तमत व शिवद्वैतवादी प्रसिद्ध हैं। शैव-दर्शन, परम्परा में काश्मीर का प्रातिभज्ञान दर्शन, अद्वैत शैव दर्शन, माहेश्वर मत, पाशपत दर्शन, सिद्धान्तागम, शैवविशिष्टाद्वैत, नकुलीशाह, पाशुपत आदि शैव का वर्णन भारतीय दर्शन में मिलता है।

शैव दर्शन के मतानुसार शक्ति-अखंड, अव्यक्त शिव का एक अभिन्न अंग है। शिव का वास्तविक रूप आनंद है। शैव मतानुसार, इस संसार में हमें जो कुछ दुःख दिखायी देता है वह वास्तविक नहीं है। अविद्या के पर्दे के कारण हम अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गये हैं। शिव की शक्ति के दो रूप हैं-अविद्या एवं विद्या। अविद्या का कार्य मोह उत्पन्न करना है और विद्या का कार्य माया के पर्दों को हटाकर साधक को उसकी अन्तरात्मा में शिव-रूप के सच्चे स्वरूप का दर्शन कराकर आनंद का आभास करना है। शैव दर्शन में विद्या-शक्ति को ही आनंद-दशा 'तुरीय-अवस्था' को व्यक्त करते हुए इसे तुरीया विद्या माना है।[2] शैव साधकों ने वाणी के महत्त्व को निम्न प्रकार से स्त्रोत विधि में व्यक्त किया है-

*''आत्मा त्वम् गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं।*
*पूजा ते विषयोपभोग रचना निद्रा समाधिस्थितः।।*
*संचार पदयोः प्रदक्षिणाविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो।*
*यद्यत्कर्म करोमि तत्रदखिलं शम्भो तवाराधनम्।।*[1]

अर्थात् आत्मा! तुम शिव हो, बुद्धि पार्वती, प्राण सहचर है तथा शरीर पर है। विषयों का उपभोग ही शिवपूजा है। निद्रा ही समाधि-दशा है। पद-संचरण ही प्रदक्षिणा है तथा समस्त वाणी ही स्तोत्र है। मैं जो भी काम करता हूँ वह सब शिव की आराधना है।

अविद्या के अंग-ज्ञान-शक्ति, इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति मानी गयी हैं। शैव दर्शन की इन शक्तियों का सम्बंद्ध संगीत तथा काव्य आदि में

शोध छात्रा, वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग ल. ना. मि. वि. दरभंगा

नाद-शब्द सहित शक्तियों से लगाया जाता है। अविद्या शक्ति का प्रमुख तत्त्व ज्ञान है, जिसका साधक-कलाकार प्रयोजन निश्चित कर उपासना करता है। लक्षण में इच्छा का प्रमुख हाथ है, जिससे संगीतज्ञ वांछित लक्ष्य को पाने की चेष्टा करता है, इसे क्रिया-शक्ति में परिवर्त्तित कर अभ्यास, साधना आदि के मार्गों को अपनाता है। इसी से व्यंजना-शक्ति में प्रविष्ट कर आनंद-शक्ति को प्राप्त होता है। डॉ. भोलाशंकर के अनुसार- ''जिस प्रकार आनंद-शक्ति के द्वारा 'अनुत्तर' परमशिव तत्त्व का प्रत्यभिज्ञान होता है, ठीक उसी प्रकार व्यंजना-शक्ति काव्य के आत्मस्वरूप ध्वनि को जो स्वयं शब्द-ब्रह्म (स्फोट) है, अभिव्यक्ति के साधक (सहृदय) को उस रसो हम् (आनंदोहम्) की स्थिति का प्रत्यभिज्ञान कराती है। अभिनवगुप्त का व्यंजना-स्तुति करना तथा उसकी महत्ता बताना इस बात का संकेत है। इस हेतु कवि लोचन का एक श्लोक द्रष्टव्य है-

*''स्फुटीकृतार्थवैचित्र्यबहिः प्रसरायिनीम।*
*तुर्या शक्ति महं वन्दे प्रत्यक्षार्थनिदर्शिनाम्।।''*[2]

अर्थात्, तुर्या शक्ति अर्थ-वैचित्र्य का स्फोट तथा प्रकट कर उसे फैलाती है तथा प्रत्यक्ष अर्थों का निर्देश करती है। मैं उसी तुर्या शक्ति (व्यंजना, आनंद, नाद) की वंदना करता हूँ। शैव धर्म में विशेषकर प्रत्यभिज्ञान दर्शन में कला, सौन्दर्य एवं संगीत आदि में निबद्ध स्तोत्र का प्रत्यक्ष, व्यापक एवं रहस्यात्मक विवरण मिलता है। इसका एक ऐतिहासिक कारण यही है कि भारतीय कलाशास्त्र, साहित्य, काव्य और अन्य धर्म-ग्रन्थों में कला के प्रमुख आचार्य-गणों की जन्मभूमि, काश्मीर ही थी, जो शैव धर्म तथा दर्शन के उद्गम एवं विकास का केन्द्र मानी गयी है। इस दर्शन के अनुसार शिव आत्मक्रीड् की इच्छा से प्रेरित होकर अपनी महामाया शक्ति से विश्व की रूप-रचना एवं शृंगार आदि करते हैं- ''मायाशक्तिकृतपूर्ण स्वरूपपाख्यातिमय चित्तकार्यतापपन्नस्वरूपप्रसरणरसात् प्रभो।''[1] अर्थात् केवल शिव अहं मात्र है, केवल प्रकाश (विद्रूप) या प्रकाश या सम्विद् अवस्था आत्मा की स्वरूप-विश्रांति की अवस्था है। यही आनंद या रस है। शिव का द्रवीभूत रूप शक्ति के संयोग से रस द्वारा विश्व-रूप धारण करता है।

समस्त भारतीय कलाओं पर शैव दर्शन का प्रभाव आरंभ से ही लक्षित होता है-संगीत, साहित्य, मूर्ति, चित्र, वास्तु तथा नाट्यादि कलाओं में भगवान शिव की ही परिकल्पना सबसे अधिक प्रेरणा मिलती है। शैव दर्शन में विश्व की कल्पना नाट्य-रूप में बार-बार की गयी है, जो इस स्तोत्र से परिलक्षित होती है-

*''नमस्त्रैलोक्यनिर्माण कवये शम्भवे यतः।*
*प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिकौ जनः।।''*

अर्थात, त्रैलोक्य (रूप-नाटक का निर्माण करने वाले) महाकवि शंकर को नमस्कार है क्योंकि संसार के लोग प्रतिक्षण (उनके विरचित) इस जगत रूप-नाटक के प्रयोग में रसास्वादन का अनुभव करते हैं।[2]

शैव मतानुसार बिंदु को सृष्टि की उत्पति का कारण माना गया है। बिन्दु नादात्मक शब्द रूप में व्यक्त होता है। संत इसे शब्द-साधना कहते हैं और साधक इसे नाद-साधक। यह शब्द भी नादात्मक है। सम्पूर्ण विश्व में नाद स्फुरित होकर ध्वनित हो रहा है। यही नाद वर्णों का रूप धारण कर लेता है। 'अ' से 'ह'तक वर्ण-स्थूलता को प्राप्त करते हैं और स्वर सा, रे, ग, म, प, ध और नी रंजकता को। नाद आकाश का रूप धारण करके चार अन्य भूतों के रूप में बदल जाता है। सागर जिस प्रकार ऊर्मियों को उत्पन्न करके चार अन्य भूतों के रूप में बदल जाता है, शान्त रहता है, और ऊर्मियाँ तथा सागर भिन्न प्रतीत होने पर भी अभिन्न रहते हैं, ठीक उसी प्रकार सृष्टि एवं शिव एक और अभिन्न दोनों है। नाद की महिमा के कारण ही योगी नादानुसंधान करके सूक्ष्मतम बिन्दु को प्राप्त करते हैं, और शिव-शक्ति की ऐक्यरूपिणी 'बैन्दव' अवस्था को प्राप्त करते हैं।1

शंकर वेदांत में नाद जिस प्रक्रिया में स्थूल पंचभूतों का रूप धारण करता है, उस प्रक्रिया को पिण्ड में भी देखा जा सकता है। जब बिन्दु विभक्त होता है तो अहम् की अभिव्यक्त ध्वनि उत्पन्न होती

है। यही शब्द-ब्रह्म है। इसके भीतर इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान अवस्थित है। इच्छा, क्रिया ज्ञानात्मक नाद पिण्ड से भी ध्वनित होता है। पिण्ड में यह नाद परा, पश्यंति, मध्यमा तथा बैखरी-इन चार सोपानों में विकसित होकर बैखरी--स्थिति में स्वर-रूप धारण करता है। इस सूक्ष्म नाद और उसके आनंद का कुण्डलिनी योग द्वारा अनुभव किया जाता है। यह आनंद परब्रह्म की शक्ति का द्योतक है। इस मत का प्रतिपादन डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने इन शब्दों में किया है-''पश्यंति तथा मध्यमा के सूक्ष्म रूपों का संबंध सांगीतिक स्वरों के उत्पादन में वर्त्तमान मानसिक क्रिया के साथ है। प्रत्येक क्रिया को आरंभ करने के पूर्व उसको करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा करने की क्रिया में इच्छित वस्तु स्पष्टतया ज्ञात नहीं होती। सांगीतिक स्वरों को उत्पन्न करने के पूर्व उसके विषय में जो इच्छा की जाती है,उसमें मनुष्य के ध्वनि-उत्पादक अवयवों एवं वाद्यों के आघात से उत्पन्न जो स्वर वर्त्तमान हैं, वे क्रमशः सूक्ष्म-पश्यंति एवं सूक्ष्म-मध्यमा से संबंधित हैं। इसी प्रकार से एक वाक्य अथवा शब्द के व्यक्त वर्ण स्थूल बैखरी से उत्पन्न होते हैं, परन्तु अपने पररूप में वे सभी 'विश्वात्मा' अथवा 'शिव' के साथ एकात्म स्वरूप हैं। इसी प्रकार वाद्यों द्वारा उत्पन्न संगीत में उन स्वरों की सामंजस्य पूर्ण एकात्मकता के कारण यह सौन्दर्य उद्‌भूत होता है, और मानवीय ध्वनि उत्पादक अवयवों एवं वाद्यों से आविर्भूत होते हैं। इसी एकात्मकता के कारण संगीत-कला में मानव के हृदय को मुग्ध करने की शक्ति है।''[1] अतः इससे 'शिव ही सुन्दर है' के कथन की भी पुष्टि होती है।

शैव-स्तोत्रों के प्रणेता के रूप में दुर्वासा ऋषि का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है। इनके स्तोत्र का नाम 'परशम्भुमहिन्नः स्तव' है। यह तेरह प्रकरणों में विभक्त है। यह शैव स्तोत्रों का अथाह भंडार है।2 इसमें संगीत का आधार-तत्त्व 'श्रुति' शब्द से आरंभ होता है। इसमें शिव की स्तुति के लिए लिखा है-

*''श्रुति-स्मृति मिथः पथे प्रचलितो हेमकान्ततः।*
*प्रभो शिवगुरोस्तव त्रिजगदुन्नताज्ञां गतः।*
*भजामि परपावकं त्रिजगदात्महव्याशिन।*
*भवन्तमधिदैवतं भववने ज्वलंत स्वतः।।''*

यह गीत लंकेश्वर रावण द्वारा विरचित शिव-स्तुतियाँ दस पद्यों की हैं। इनमें लयात्मक पदबद्धता का पूर्ण ध्यान रखा गया है।

आदिगुरु तथा अद्वैतवादी शंकराचार्य ने संगीत के माध्यम से मोक्ष-प्राप्ति हेतु निम्न स्तोत्र की रचना की-

*''मनः बुद्धियहंकार चित्तानि नाऽहं न च श्रोत जिह्वे न च घ्राण नेत्रे।*
*न च व्योम भूर्मिन तेजो न वायुश्च चिदानन्द रूपः शिवोऽमं श्विोऽम्।*
*न च प्राणसंज्ञो न वै पूञ्चवायुर्न वा सप्तधातुर्न वा पूञ्चकोशः।*
*न वाक्यपाणिपादं न चोपस्थपापुश्चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।*
*न मे द्वेषरागौ न मे लोभमोहौ भदो नैव मे नैव मात्सर्यभावः*
*न धर्मो न चाऽर्थो न कामो न मोक्षश्चिदानन रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।*
*न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं न मन्त्रो न तीर्थ न वेदा न यज्ञा।*
*अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता चिदानन्द रूपः शिवोऽहं श्विोऽहम्।।*
*न मृत्युर्न शंका न मे जाति भेदः पिता नैव मे नैव माता च जन्य।*
*न बन्धुर्न मित्रं गुरूर्नैव शिवाश्चिदानन्द रूपः शिवोऽहं श्विोऽहम्।।*
*अहं निर्विक्लपो पिराकारूपो विधुत्वाच्च सर्वत्र सर्वोन्दियाणाम्।।*
*न चासंगते नैव मुक्तिर्न मेयश्चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।*

के. वासुदेव शास्त्री ने भी शैव परम्परा के ग्रन्थों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार-'भारत में काश्मीर प्रदेश सदैव शैव-स्तोत्रों की धराओं का केन्द्र रहा हे। काश्मीर की आगम परम्परा में संगीत के आदि कर्त्ता महादेव हैं। शिव-संवाद के रूप में 36000 श्लोकों का ग्रन्थ 'गान्धर्व' नाम से प्रचलित था परन्तु अब यह ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त यमलाष्टक नन्दिकेश्वर (नन्दिकेश्वर-कृत) काश्यपीयम् (कश्यप-कृप) आदि ग्रन्थ भी शैव-परम्परा के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं।[1]

शैव-परम्परा के प्रथम उपासक आदिगुरु शंकराचार्य माने गये हैं। नौवीं शताब्दी में काश्मीर के शैव परम्परावादी आचार्य उत्पलदेव तथा दसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के आचार्य अभिनवगुप्त सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक, कवि एवं संगीतज्ञ माने गये हैं। उत्पलाचार्य आचार्य अभिनवगुप्त के दादागुरु थे। अभिनवगुप्त ने अनेक शैव-स्तोत्रों का प्रणयन किया है, जिनमें ईश्वर-स्तोत्र या भैरव स्तोत्र अत्यन्त विख्यात हैं, यथा-

*''अन्तक मा प्रति मा दृश्मेनां क्रोधकरालतमां विनिद्योहि।*
*शंकर चिन्तन-सेवन धीरो भीषण-भैरव शक्तिमयोऽस्मि।।''*

शैव परम्पराओं में याष्टिक, आंजनेय में भी शिव तथा उनकी शक्ति दुर्गा की स्तुतियाँ है। इसका अनुकरण पं. दामोदर ने 'संगीत-दर्पण' में किया है। इन्हीं परम्पराओं का अनुकरण तेरहवीं शताब्दी के पं. शारंगदेव ने 'संगीत-रत्नाकर में संगीतोत्पत्ति और राग-विवरण-प्रकरणों में किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती प्रवत्तर्क राजाओं के नामों का उल्लेख भी किया है, और उन्हें संगीतविशारद कहकर संबोधित किया है-

*''सदाशिवः शिवा ब्रह्मा भरतः कश्यपो मुनिः।*
*मतंग याष्टिकों दुर्गा शक्तिः शार्दूकोहलौ।।*
*विशाखिलो दत्तिलश्च कम्बलो यवतरस्तथा।*
*वायुविश्वावसु रम्भार्जनों नारद, नन्दिकेश्वरः।*
*ओजनेयो मातुगुप्तो रावणो, नन्दिकेश्वरः।*
*स्वातिर्गणों बिन्दुराजः क्षेत्र राजश्च राहुलः।।*
*रुद्रटो नान्यभूपालो भेजभुवल्लभस्तथा।*
*परमर्दी च सोमोशे जगदेशमहीपतिः।।*
*व्याख्यातारो भरतीये लोल्टोद्भटशंकुकाः।*
*भट्टभिनवगुप्तश्चश्रीमत्तीकीर्त्तिधरः परः।।*
*अन्ये च बहवः पूर्वे ये संगीत विशारदा।''*

काश्मीर से तमिल प्रदेश तक शैव परम्परा के उपासकों ओर आचार्यों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। शैवमत के प्रवर्त्तकों के प्रवर्त्तकों ने शिव-भक्ति की परम्पराओं में अटरूप्पड़ई नामक गायन-शैली को अपनाया, जिसमें शिव के अतिरिक्त उनके पुत्र गणेश और वाहन नीलकंठ पक्षी का भी वर्णन है। शैव परम्पराओं का प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण भारत में है। अटरूप्पड़ई गायन-शैली का प्रयोग शैव किया करते थे, और अहम् गान-भक्ति-गीतों का प्रयोग वैष्णवों द्वारा किया जाता था।

राग-ध्यान और चित्रों द्वारा राग-रागनियों की स्वरूप-व्यवस्था का उल्लेख अनेक संगीतशास्त्रों में मिलता है। राग के दो रूप हैं- (1) भवमय या देवतामय और (2) नादमय।

नादमय रूप उसका शरीर है और भावमय अथवा देवमय रूप-राग की आत्मा। सोमदेव द्वारा रचित 'राग विबोध' के पंचम विवेक के ग्यारहवें श्लोक के अनुसार-

'सुस्वर वर्ण विशेषं रूप रागस्य बोधकंद्वेधा।
नादात्म च दवेमयं त्तक्रमतों नेकमेकं तु।।

अर्थात् रूप उसको कहते हैं, जो सुन्दर स्वर एवं वर्णों द्वारा राग को सम्मुख उपस्थित कर देता है। इसके दो प्रकार हैं- नादात्मक तथा देवमय। नादात्मक रूप अनेक प्रकार के हो सकते हैं, परन्तु देवमय रूप एक ही होता है।

विभिन्न ग्रन्थकारों-कोहल, मतंग, दामोदर पंडित, महाराणा कुम्भा, सोमनाथ आदि ने रागों में देवी-देवता के ध्यान-चित्रों का उल्लेख किया गया है, यथा-'संगीत-दर्पण' में भैरव राग के ध्यान द्वारा शिव का स्मरण निम्न श्लोक में किया गया है-

*''गंगाधरः शशिकलातिलकस्त्रिनेत्रः।*
*सर्वविभूषिततनृगजतिः वासः।।*
*भास्वत्त्रिशूलकर एवं नृमुंडधारी। शुआम्बरो जयति भैरव आदि रागः।।''*[1]

अर्थात् जिसके मस्तक से गंगा बहती है, जिसके मस्तक पर चन्द्रकला का तिलक है, जिसके तीन नेत्र हैं, जिसके शरीर पर सर्प विराजमान है, जिसने अपने शरीर पर हस्तिचर्म धारण किया है, जिसके हाथ में त्रिशूल और गले में रुद्राक्ष की माला है और जो श्वेत वस्त्र धारण किए हे, ऐसा आदि भैरव राग है। इसमें भैरव राग के गंभीर तथा रुद्र भाव को उसके प्रतीकात्मक देवता शिव द्वारा व्यक्त किया गया है।

राग भैरव की सुप्रसिद्ध रागिनी भैरवी का वर्णन निम्नवत् है-

*''स्पटिकरचित पीठेम्यकैलाश शृंगे।*
*विकचकमलपत्रैश्चर्ययन्ति महेशं।।*
*करधृतधनवाद्या पीतवर्णा यताक्षी। सुकीवीरयमुक्ता भैरवी भैरव-स्त्री।।''1*

ठाकुर जयदेव सिंह रागों के ध्यान की एक विशेष प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए लिखते हैं- ''सर्वप्रथम गायक या वादक को राग के रस-रूपी देवता पर शांतचित्त होकर अपने चित्त को समाहित करना चहिए। फिर धीरे-धीरे उसी राग के रस-रूपी देवता पर शांतचित होकर अपने चित्त को समाहित करना चाहिए। फिर धीरे -धीरे उसी राग के स्वरों में उसे उस देवता का आवाहन करना चाहिये, जब गायक उस देवता का ध्यान तथा आवहन नादात्मक रूप से करता है, तब ध्यान मानसिक नहीं रहता, वाचिक हो जाता है। जिस प्रकार जप तीन हैं- अजपा, उपांशु, और वाचिक, उसी प्रकार राग-ध्यान के भी तीन रूप हैं-मानसिक, उपांशु, और नादात्मक। मानसिक ध्यान में गायक राग के देवता पर केवल चित्त समाहित करता है। उपांशु ध्यान में भीतर-ही-भीतर गुन -गुनाकर देवता का आवाहन करता है और नादात्मक ध्यान में वह स्वतंत्र गले से गाते हुए देवता का ध्यान करता है।2

'रागमाला' में प्रत्येक राग को देवी-देवताओं का स्वरूप देकर राग की अभिव्यंजना की गयी है। विलर्ड कृत 'म्यूजिक आफ हिन्दोस्तान' में अनेक राग-रागनियों के चित्रों की परिकल्पना की गई है।

'संगीत-दर्पण' (श्लोक 160-62) में भगवान शिव के पाँच मुखों से पाँच रागों तथा पार्वती जी के मुख से छठे राग नटनारायण की उत्पत्ति मानी गई है-

*''शिवशक्तिसमायोगाद्रागाणा सम्भवो भवेत्।*
*पन्चास्यात पञ्चरागाः अभ्युदयः वसन्तु गिरिजामुखात्।।*
*मद्यौवक्रान्तु श्रीरागों वामदेवद्वसन्तकः।*
*अधोरात भैरवोद्भगूतः पुरुषात् पञ्चमो भवेत्।।*
*इशनाख्यान्मयेघरागो नाद्यरम्भे शिवाद्भूत।*
*गिरिजा मुखाल्लास्ये नट्नारायणो भवेत्।।''*

अर्थात्, शिव के सद्योजात मुख, वाम तथा अघोर मुख से छः राग तथा छत्तीस रागनियाँ प्रकट हुई, जिनका विस्तृत वर्णन राग-रागिनी वर्गीकरण के सोमेश्वर-मत में मिलता है।

आदिदेव महादेव की व्याप्ति सम्पूर्ण प्रकृति में है। प्रकृति लयबद्ध है इस कारण शैव दर्शन और शैव परम्परा के साथ शिव की उपासना-अर्चना में भी संगीत की सक्रिय भूमिका स्पष्टतः परिलक्षित होती है। शिव की उपासना में अन्तिम लक्ष्य के रूप में शिवपद की प्राप्ति शिवोऽहम के माध्यम से ही होती है। अपने अहं का त्याग कर शिव के अस्तित्व में अन्तर्लीन करना और शिवोऽहम्-शिवोऽहम् मंत्र को माध्यम बनाना शैव सम्प्रदाय का लक्ष्य रहा है। दार्शनिक दृष्टि से सम्पूर्ण सृष्टि शिव का ही लीला मात्र है। बिन्दु सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है, जो नाद में अभिव्यक्ति पाता है। इस कारण शैव-दर्शन को नाद-साधना भी मानता है।

# शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीत का धार्मिक मूल्य

**राजीव कुमार**

भारतीय संस्कृति का मूलाधार ही धर्म है। धर्म की सुदृढ़ आधार-भूमि पर ही भारत का समस्त गौरव टिका हुआ है। यहाँ की समस्त कलाओं में धर्म के तत्त्व अनुस्यूत हैं। धर्म अगर आभिजात्य जीवन का प्राण है, तो लोकजीवन का भी। संगीत के मुख्य दो रूपों में शास्त्रीय और लोक-संगीत की गणना की जाती है। यदि देखा जाय तो धर्म दोनों के ही विकास का आधार है।

शास्त्रीय संगीत भारत के चाहे किसी भी क्षेत्र में अलग-अलग शिल्पों में विकसित हुआ हो मगर वह धार्मिक आख्यानों या उसके उपक्रमों का ही कलासम्मत प्रदर्शनमात्र है। अधिकांशतः शास्त्रीय संगीत की विभिन्न राग-रागिनियों की बंदिशें धार्मिक आख्यानों से जुड़ी हैं, जिसके भीतर देवी-देवताओं की लीलाओं का कोई-न-कोई कथांश अवश्य होता है। श्रीराम और श्रीकृष्ण का अवतार भले ही उत्तर भारत की परिघटना हो किन्तु भारत के प्रांतों में शास्त्रीय घटना अधिकांश बंदिशें उन्हीं की लीला पर आधारित हैं। चाहे वह दक्षिण भारत हो या फिर से पंजाब या बंगाल या कश्मीर या कन्याकुमारी का कोई हिस्सा शास्त्रीय संगीत में वहाँ धार्मिक एकता सर्वत्र दिखायी पड़ती है।

लोकसंगीत आभिजात्य वर्ग से अलग बृहत्तर ग्राम्य समाज के लोक-जीवन से जुड़े हैं। लोक-जीवन की जड़ें धार्मिक विश्वास से ही जीवन रस पाती रही हैं। समस्त लोक-कलाओं का में धर्म का प्राधान्य है। सामान्य जन-समूह में धर्म ही समस्त कार्य-व्यापारों का संबल है। किन्तु भारतीय लोकसंगीत में धर्म का प्राधान्य है। सामान्य जन-समूह में धर्म ही समस्त कार्य-व्यापारों का संबल हैं। उनमें धर्म के प्रति असीम आस्था एवं अटूट विश्वास समाहित है। जन-जीवन में प्राणों के समान संचरित होनेवाला यह धर्म भारतीय लोक-संगीत के निर्माण में पृष्ठभूमि का कार्य करता है। सम्पूर्ण लोक-संगीत धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत है।1

लोक-संस्कृति में लोक-संगीत में व्याप्त समस्त नियमाचार प्रतिबिम्बत होते हैं। धर्म का लोक-जीवन में कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता क्योंकि जटिलता एवं गहन दार्शनिकता सामान्य जनों के लिए अनुकूल नहीं हुआ करती। अतः जो सुगम होता है लोकमानस उसे ग्रहण कर लेता है। इसीलिए ईश्वर के भाव-रूप की उपसाना वहाँ होती है, जहाँ निर्गुण रूप की ज्ञानमयी साधना के लिए लोकमानस का सीधा-सादा अबोध भाव अनुकूल सिद्ध नहीं होता। सगुण ब्रह्म के समस्त अवतार-रूपों की उपासना का प्रचलन लोक-जीवन में प्राप्त होता है। असाम्प्रदायिक सामान्य व्यक्ति किसी एक विशिष्ट देव-स्वरूप का उपासक नहीं होता वरन् समस्त देवी-देवताओं के प्रति उसके हृदय में समान आस्था होती है। देवी-देवताओं की उपासना के अतिरिक्त लोक-समुदाय में वृक्ष, पशु-पक्षी, नदी, पर्वत आदि की पूजा के दृष्टान्त भी मिलते हैं। यही धार्मिक आस्था बहुधा धार्मिक अंधविश्वास का रूप लेकर लोक-परम्परा में व्याप्त हो जाती है।

जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत संगीत मानव के संग रहता है। जीवन-काल का कोई भी शुभ या अशुभ अवसर संगीत से अछूता नहीं रहता। जन्म से लेकर मृत्यु तक षोडश संस्कार, बारह मास के पर्व-त्योहार, ऐसा कोई अवसर नहीं होता, जहाँ संगीत की

---

शोध छात्र, वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि., दरभंगा

स्वर-लहरी न हो। चाहे विद्वान् हो या अनपढ़, बड़ा शहर हो या छोटा-सा कस्बा या ग्राम, पिछड़ा वर्ग हो या उच्च वर्ग, अपनी-अपनी श्रेणी और अपनी-अपनी समझ के अनुसार वहाँ संगीत गूंजता ही है।

हिन्दू संस्कृति में षोडश संस्कार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और इन समस्त संस्कारों से संगीत का सम्बंध वैदिक काल से रहा है। उस समय इन सोलह संस्कारों को पूर्ण विधि-विधान से करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। समस्त संस्कारों अथवा मांगलिक कार्यों में संगीत गूँजता था। यद्यपि आज समयाभाव के कारण बहुत-से संस्कार लुप्त हो चुके हैं, तथापि शेष जितने भी संस्कार किये जाते हैं, उनमें संगीत का समावेश रहता है।

आधुनिक समय में जितने भी संस्कार किये जाते हैं, उनमें सर्वप्रथम जातकर्म संस्कार कहीं-कहीं देखने को मिल ही जाता है। वैसे तो आजकल प्रसव अस्पताल में होने के कारण यह संस्कार लुप्तप्राय हो गया है, किन्तु जिन बालकों का जन्म घर में होता है, उनमें यह संस्कार किया जाता है। भले ही इसका स्वरूप थोड़ा परिवर्तित हो गया है। प्रायः देखा गया है कि पुत्र-रत्न की प्राप्ति के अवसर पर घर की वृद्ध स्त्रियाँ प्रसन्नता से झूम उठती हैं, पारम्परिक गीत उनके मुख से फूट पड़ते हैं, और वातावरण संगीतमय हो जाता है। रामायण में श्री रामचन्द्र जी के जन्म के विषय में तुलसीदास जी लिखते हैं-

*जाकर नाम सुनत सुभ होई।*
*मोरें गृह आवा प्रभु सोई।।*
*परमानन्द पूरि मन राजा।*
*कहा बोलाइ बजावहु बाजा।।1*

अर्थात् राजा दशरथ जी कहते हैं, जिनका नाम सुनकर ही कल्याण होता है, वही प्रभु मेरे घर आए हैं। यह सोचकर राजा दशरथ जी का मन परमानन्द से पूर्ण हो गया और बाजा बजानेवाले को बाजा बजाने का आदेश दिया।1

*बृंद बृंद मिलि चलीं लोगाई।*
*सहज सिंगार किएँ उठि धाईं।।*
*कनक कलस मंगल भरि थारा।*
*गावत पैठहिं भूप दुआरा।।*

अर्थात्, स्त्रियाँ झुण्ड-की-झुण्ड मिलकर चलीं। स्वाभाविक शृंगार किये हुए ही वे उठ दौड़ी। सोने का कलश लेकर और थालों में मंगल-द्रव्य भरकर गाती हुई वे राज-द्वार में प्रवेश करती हैं।[2]

जातकर्म संस्कार के उपरांत आजकल किये जानेवाले संस्कारों में आता है नामकरण संस्कार। यह संस्कार अपनी-अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार किया जाता है। आर्थिक रूप से सम्पन्न माता-पिता इस संस्कार को समारोह के रूप में भी करते हैं और जिनकी आर्थिक स्थिति साधारण होती है, वे सूक्ष्म रूप से इस संस्कार को कर लेते हैं। लेकिन संगीत का समावेश दोनों ही रूपों में होता है। सम्पन्न परिवार पूर्ण विधि-विधान से मंत्रोच्चारण करवाकर हवन-पूजन और फिर धूमधाम से भोज करते हैं तो सम्पन्न करवा लेते हैं। महिला संगीत के गीतों में मां और नवजात शिशु के स्वास्थ्य व दीर्घायु की मंगलकामना इन पारम्परिक गीतों में प्रबल रहती है।

हिन्दू समाज संस्कारों की स्वायत्तता को तो स्वीकार करता ही है, मुस्लिम समाज भी संस्कारों के महत्त्व को मानता है। ''प्रचलित प्रथा के अनुसार जब सलीम ने अपने पिता को बालक की छठी के अवसर पर नामकरण-संस्कार के लिए आमंत्रित किया था, तब वह आनंद-विभोर होकर उत्सव में सम्मिलित होने गया था। उसने शिशु का नाम खुर्रम (अर्थात् प्रसन्न या आनन्दित) रखा।''[3]

प्रचलित संस्कारों में इसके उपरांत अन्नप्राशन संस्कार आता है। ''इस संस्कार के दिन विभिन्न मंत्र-पाठ के साथ भोजन पकाया जाता था। पिता वाक्, बल पुष्टि आदि के लिए आग्नि में हवि डालता है और भूः, भुवः, स्वः का उच्चारण करता था। अन्न देवस्वरूप है, अतः मंत्रों द्वारा उसकी स्तुति उचित ही थी।''1 आजकल भी इस संस्कार को मंत्र-पाठ से सम्पन्न कराया जाता है।

विद्यारंभ भी आजकल प्रायः लुप्त हो चुका है, क्योंकि आजकल दो या तीन वर्ष की आयु में बालक को विद्यालय भेज दिया जाता है जबकि वैदिक काल में इस संस्कार को सम्पूर्ण विधि-विधान से किया जाता था और इसकी आयु-सीमा तीन वर्ष से लेकर आठ वर्ष तक मानी जाती थी। मुस्लिम

समाज भी इस संस्कार को करता था, ऐसा उल्लेख मिलता है।

''मुगलों की यह परिपाटी थी कि जब बालक चार साल, चार महीने का हो जाता था जब उसका 'खतना' कराने के उपरांत उसका विद्यारंभ संस्कार होता था। इसको 'मकतब' कहते थे, अर्थात् शिशु को विद्यालय भेजना।''[2]

इसके उपरांत आता है विवाह संस्कार। वैदिक काल से आज तक यह संस्कार प्रत्येक वर्ग में धूमधाम से किया जाता है। यद्यपि आजकल कोर्ट मैरिज का भी बहुत प्रचलन है, तथापि अधिकतर विवाह सम्पूर्ण रीति-रिवाज से ही किये जाते हैं, जैसे-दूल्हा-दूल्हन को तेल चढ़ना, हल्दी लगाना, मेंहदी लगाना और भी न जाने कितनी रस्में की जाती हैं। प्रत्येक रस्म को करते समय लोक-गीतों को गाती स्त्रियों को देख जा सकता है। पुत्री के विवाह पर वे 'सुहाग-गीत हैं, जैसे-

*फूल लाओ मलिनियाँ सजा डालो।*
*तथा*
*आजु मिथिला नगरिया निहाल सखिया,*
*चारों दुलहा में बड़का कमाल सखिया।*
*माथे मणि मौरिया कुण्डल सोहे कानवां,*
*कारे कारे कजरारे जुलमी नयनवां।।*
*लाले लाल चन्दन चमके ऊँचे भाल सखियाँ*[3]

इसी प्रकार विवाह पर निम्न विदाई गीत गाने का प्रचलन है, जैसे-

*ऐ पहुना! अब मिथिले में रहु ना।*
*जबने मुख वा ससुरारी में तवने सुख बा कहुँना।*
*अब मिथिले....*
*हमर निहोरा रघुनन्दन से माने या ना माने,*
*पर ससुरारी के नाते 'परताप' के आपन गाने,*
*या मिथिले में रहि जईयो या संग अपने रखि लहु ना।*[1]

तथा

*बड़ा रे जतन सँ हम, सिया धिया पोसलौं, से हो रघुवर नेने जाय।*
*हाथी हथिसार रोवै घोड़ा घोड़सरवा रानी जी रोवत रनिवास।।*[2]

इस प्रकार के गीतों में परिवार के सभी रिश्तों के नाम आ जाते हैं, जिनमें सम्मिलित शुभकामनाएँ भी होती हैं। इसी प्रकार पुत्री के विदा के समय भी गीत गाये जाते हैं, जिन्हें सुनकर स्वतः ही रुलाई फूट पड़ती है, जैसे-'बाबुल की दुआएँ लेती जा, जा तुझको सुखी संसार मिले।'

इसी प्रकार एक गीत और है विदाई का, जिसमें मां अपनी बेटी को शिक्षा देती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समस्त संस्कारों में तो संगीत विद्यमान रहता ही हैं, किन्तु विवाह संस्कार एक ऐसा संस्कार है, जिसमें हर पल संगीत रहता है।

मानव-जीवन में अन्त्येष्टि संस्कार अन्तिम संस्कार है, जो उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र अथवा पौत्र करते हैं। यद्यपि यह संस्कार बहुत दुःख में सम्पन्न होता है, तथापि इसमें भी संगीत का समावेश रहता है। वैदिक काल में ऐसी मान्यता थी कि साम-गान करने से मृत व्यक्ति की आत्मा बिना किसी कष्ट के यम-धाम पहुंचती है और उसे मोक्ष-प्राप्ति होती है।3

महाभारत में अन्त्येष्टि संस्कार का बहुधा वर्णन हुआ है, यथा-आदि पर्व (अध्याय127) में पाण्डु के दहाकर्म में (चारों ओर से ढकी शिशिका में शव ले जाया गया था) वाद्य यंत्र थे जुलूस में राजछत्र व चामर थे, साधुओं को धन बांटा जा रहा था, गंगा-तट स्त्री पर्व में वर्णित है कि (169/10-91) भीष्म के दाह-कर्म में कौरवों की नारियाँ शव पर पंखे झेल रही थीं और सामवेद का गान हो रहा था।1

स्पष्ट है कि जीवन-काल में समस्त संस्कारों मे विभिन्न अवसरों पर तो संगीत गूँजता ही है, किन्तु मृत्यु जैसा शोकपूर्ण अवसर भी इससे अछूता नहीं रहता। कई जातियों तो संगीतमय विलाप तथा मरसिया-गान की प्रथा भी है।2 राजस्थान में किराए पर विलाप करने वाली को 'रुदाली' कहा जाता है, जिसका चित्रण फिल्म 'रुदाली' में भली प्रकार किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन का कोई भी अवसर, चाहे सुख का हो या दुःख का, संगीत के अभाव में अधूरा ही है। मनुष्य जन्म से लेकर अपनी अन्तिम श्वांस तक संगीत से जुड़ा रहता है।

# हिन्दुस्तानी रागों में गंधार स्वर का वक्र प्रयोग (ग म रे सा)

**डॉ. नूतन कुमारी**

हमारा हिन्दुस्तानी संगीत राग प्रधान रहा है, और इसका प्रमुख उद्देश्य रहा है-

*'रंजको जन चित्तानां'*

'To entertain the minds of the people'[1] इस दृष्टि से इसमें राग के सभी शास्त्रीय नियमों का पालन करते हुये, उसमें सौंदर्य-वृद्धि के लिये स्वरों को भिन्न-भिन्न ढ़ग से, अपनी कल्पना के अनुसार उन्हें सजाते हैं।

रागों में स्वरों के विशेष लगाव, उनकी विशेष स्वर-संगतियां, एक राग को दूसरे राग से अलग रखने का तथा कौन-से स्वर समूह कौन-से राग में किस प्रकार लगना चाहिये इत्यादि बातों का ध्यान रखते हुये राग का एक स्वतंत्र स्वरूप तैयार किया जाता है।

ऐसे तो हमारे हिन्दुस्तानी रागों में सभी स्वरों का अपने-अपने स्थान पर विशेष महत्त्व हैं, किन्तु स्वरों का उनकी वक्रता की दृष्टि से प्रयोग भी, राग में अपना एक विशेष महत्त्व रखता है।

इस दृष्टि से हिन्दुस्तानी रागों में गंधार स्वर का अवरोहात्मक वक्र प्रयोग की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

'ग म रे सा' स्वर-समूह का प्रयोग विविध रूप से विविध रागों में हुआ है।

उपर्युक्त स्वर-समूह का विविध रूपों में प्रयोग से तात्पर्य यह है कि स्वरों के इन समुदायों में कभी स्वरों को शुद्ध रखकर, कभी इनमें से किसी स्वर को कोमल करके रागों के विविध स्वरूप बनते है।

स्वरों के इन शुद्ध एवं विकृत अवस्था को देखते हुये हम इन स्वर- समूहों को निम्नलिखित ढ़ग से बाँट सकते हैं-

(क) ग म रे सा (सभी स्वर शुद्ध)
(ख) ग म रे सा (कोमल गंधार के साथ)
(ग) ग म रे सा (कोमल ऋषभ के साथ)

उपर्युक्त वर्गीकरण में (क) 'ग म रे सा' जिसमें सभी स्वर शुद्ध हैं, बिलावल अंग का सूचक है।

यह स्वर-समूह जिन-जिन रागों में प्रयोग हुआ है, स्पष्ट है कि उन रागों में बिलावल का संयोग है।

उपर्युक्त स्वर-समूहों में स्वर-लगाव की दृष्टि से, ठहराव की दृष्टि से तथा दूसरे स्वर-समूह के साथ मिल जाने पर कई रागों के स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। इस दृष्टि से यदि यह चयन करें कि उपर्युक्त वर्गीकरण का पहला प्रकार 'ग म रे सा' का प्रयोग किन-किन रागों में हुआ है, तो बहुत-सारे राग सामने आते है। उदाहरण के लिये-

जब ग म रे सा (बिलावल) अंग के साथ म रे ग प , ध नि ध प, सा नि ध नि ध प स्वर-समूह का प्रयोग करते हैं तो राग अल्हैया-बिलावल का निर्माण होता है।

अल्हैया बिलावल में जब ग प ध नि ध, सां ध नि ध, प ग इस तरह से स्वर पर ठहराव होता है तो क्षणिक 'कलावती' का आभास होता है, लेकिन फिर जब ग म रे ग प, ग म रे सा स्वर-समूह का प्रयोग करते हैं, तो कलावती का संदेह मिट जाता है।

ग म प, म प ग म ध, नि ध, सां नि ध, प, ग म रे सा उपर्युक्त स्वर-समूह में 'ग म रे सा' बिलावल अंग का सूचक होकर राग 'हमीर' का निर्माण करते हैं।

सा म रे प, म रे प, मे प ध प, सां नि ध प, के साथ ग म प ग म सा रे सा स्वर-समूह

---

संगीत शिक्षिका, +2 M.P.T High School Jhanjarpur

बिलावल का मिलकर राग कामोद का निर्माण करते हैं।

इसी प्रकार सा रे रे ग म प, सां नि ध प, मे प ध प, प रे, ग म रे सा छायानट के स्वरूप हैं जिसमें ग म रे सा बिलावल का प्रतिनिधित्व करते हैं।

राग श्याम कल्याण में कल्याण और सारंग के स्वर-समूह के साथ गंधार का यह अवरोहात्मक वक्र प्रयोग राग शुद्ध सारंग को अलग रखता है। जैसे- नि सा रे, म रे, रे मे प, नि ध प मे प इन स्वर-समूह के द्वारा जब श्याम कल्याण में शुद्ध सारंग विशेष सामने आने लगता है तो बिलावल का उपर्युक्त स्वर समूह 'ग म रे सा' राग शुद्ध सारंग को अलग कर देता है।

'राग देवगिरि बिलावल में शुद्ध कल्याण के स्वरों- सा, नि, ध, प, प, ग के साथ बिलावल का यह वक्र गंधार-ग म रे ग रे ग प, ग म रे सा राग देवगिरि बिलावल का निर्माण करता है।

गंधार का यह वक्रत्व राग यमन के स्वर-समूह के साथ मिलकर राग 'यमनी बिलावल का निर्माण करते है। उदाहरण के लिये- नि ध नि रे ग, प मे प (यमन) ग म रे ग, ग म रे सा (बिलावल) राग मलुहा केदार में केदार के स्वर-समहों के साथ बिलावल का यह संयोग एक अलग स्वरूप प्रस्तुत करता है।

राग शुक्ल बिलावल में यह स्वर-समूह प्रचूरता से आया है। उस राग में प्रत्येक स्वर-विस्तार का अंत लगभग इसी स्वर-समूह द्वारा होता हे। राग शुक्ल बिलावल में सा, म, प, म प ध म की संगीत केदार रे रे प, मल्हार के साथ प, म ग म रे सा बिलावल जोड़कर प्रस्तुत राग की रचना की गई है।

राग सरपरदा बिलावल में राग गौड़, राग बिहाग के स्वरों के साथ सां ध नि प, ग म प, ग म रे सा बिलावल अंग जोड़ा गया है। इसी प्रकार नट बिलावल, हमीर बिलावल इत्यादि बहुत-सारे प्रचलित अप्रचलित रागों में शुद्ध गंधार का यह वक्र स्वररूप प्रयोग है[2]

(ख) अब वर्गीकरण का दूसरा प्रकार-शुद्धऋषभ के साथ कोमल गंधार के वक्र प्रयोग पर विचार करते हैं।

'ग म रे सा' स्वर-समूह का प्रयोग राग कान्हड़ा और राग मल्हार दोनों रागांग राग में होता है। यद्दपि शुद्ध ऋषभ के साथ कोमल गंधार का वक्र प्रयोग दोनों साथ कोमल गंधार का वक्र प्रयोग दोनों में है, लेकिन प्रयोग विधि अर्थात स्वर-लगाव का ढ़ग अलग होने के कारण दोनों एक दूसरे से अलग हो जाते हैं।

कान्हड़ा अंग में कोमल गंधार अति कोमल प्रयोग होते हैं। उदाहरण के लिये- सा रे रे ग रे ग म। कान्हड़ा का कोमल गंधार ऋषभ के अंश से और मध्यम के अंश से भी सा रे रे ग रे ग म सा रे सा। मध्यम के अंश से प म ग म ग म सा रे सा।

कन्हड़ा अंग में ऋषभ को अवरोहात्मक प्रयोग करते समय ऋषभ पर षड्ज का कण लिया जाता है, जिससे कान्हड़ांग स्पष्ट झलकता हैं

कान्हड़ा और मल्हार दोनों में कोमल गंधार आंदोलित प्रयोग होते है, लेकिन अंतर दोनों में यह है कि मल्हार का कोमल गंधार कान्हड़ा की तरह न तो अति कोमल और न ही कमी ऋषभ के सहारे लिया जाता है। इसमें अवरोहात्मक गंधार हमेशा ही मध्यम के अंश से लिया जाता है। मल्हार में मध्यम के बाद ऋषभ को कान्हड़ा की तरह षड्ज के अंश से नहीं बल्कि स्वाभाविक ढ़ग से लिया जाता है। उदाहरण के लिये- म, रे, प, प म ग म ग म रे सा नि ड ध नि, सा।

ग म रे सा के इस लगाव में एक बात और ध्यान देने योग्य है, कान्हड़ा का ऋषभ दीर्घ होता है साथ ही उस पर बार-बार न्यास भी किया जाता है, किंतु मल्हार में ऋषभ पर कभी न्यास नहीं किया जात है।

ऊपर की व्याखा से स्पष्ट हो गया है कि कान्हड़ा और मल्हार दोनों में कोमल गंधार का वक्र प्रयोग होते हुये भी दोनों में अंतर है।

अब एक नजर कान्हड़ा के कुछ ऐसे प्रकारों पर डालते हैं, जिसमें कान्हड़ा का कोमल गंधार अर्थात 'ग म रे सा' स्वर-समूह अंग सूचक के रूप में प्रयोग हुआ है।

आभोगी कान्हड़ा के स्वरूप सा ध, सा रे ग ऽ म, ग म ध म म ग ऽ म सा रे सा में सा ध, सा म, ग म ध ध म (बागेश्वरी) के साथ कान्हड़ा अंग सा रे रे ग रे ग म, रे सा म म ग म ग म सा रे सा मिलकर आभोगी कान्हड़ा का सुंदर स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

राग नायकी कान्हड़ा में मल्हार अंग म रे प, प म ग म ग म, सारंश के स्वर समूह म प, नि सां, रे सां नि प, म प नि प सां प नि, के साथ कान्हड़ा अंग सा रे रे ग रे ग म, प म ग म ग म सा रे सा मिलकर राग नायकी कान्हड़ा का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

'कौंशी कान्हड़ा में मालकौंश के स्वर-समूह-सा नि ध नि सा म, ग म ध, नि ध के साथ कान्हड़ा अंग ध म प, प म ग म ग म सा रे सा मिलकर प्रस्तुत राग का निर्माण करते हैं।

राग सूहा कान्हड़ा में नि सा ग म प, म प ग म (भीमपलासी के साथ म प म ग म सा रे सा (कान्हड़ा) मिलकर राग सूहा को प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार काफी कान्हड़ा, शहाना सुघराई, देवसाख, रामसाख, भावसाख इत्यादि प्रचलित तथा अप्रचलित रागों में ग म रे सा स्वर-समूह कान्हड़ा अंग का द्योतक हैं। कान्हड़ा के प्रकारों में एक बात और भी स्पष्ट होता है कि कान्हड़ा के जितने भी प्रकार है, उनमें कान्हड़ा अंग उत्तरांग में हो या न हो, किंतु पूर्वांग में सभी रागों में है।

अब मल्हार में ग म रे सा के प्रयोग पर विचार करें, तो यह सर्वविदित है कि मल्हार से राग मियां मल्हार का बोध होता है और मियां मल्हार एक रागांग राग भी है। इसमें उपर्युक्त स्वर-समूह में कोमल गंधार आंदोलित प्रयोग होता है, किंतु यदि हम इस बात पर सूक्ष्मता से विचार करें कि ग म रे सा मल्हार का सूचक स्वर-समूह है या नहीं तो हम पति हैं कि मल्हार के जितने भी प्रकार हैं जैसे- गौड़ मल्हार, सुर मल्हार, मेघ मल्हार, जयंत मल्हार इत्यादि उनमें म रे प की संगीत प्रायः अनिवार्य रूप से ली जाती है, इसके अतिरिक्त नि ऽ ध नि, सा सां ध नि म प स्वर-समूह भी मल्हार के कुछ प्रकारों में लगता है। जैसे कि ध नि म प का प्रयोग सुर मल्हार, गौड़मल्हार जयंत मल्हार में हुआ है, नि ध नि सां का प्रयोग सुर मल्हार, जयंत मल्हार में हुआ है। साथ ही जो नाम से मल्हार के प्रकार नहीं भी हैं, किन्तु उसमें मल्हार का मिश्रण है जैसे कि राग मियां की सारंग में मल्हार और सारंग का सुंदर मिश्रण है। इसमें नि ऽ ध नि ऽ सा म रे प, सां ध नि म प स्वर-समूह मल्हार अंग को दर्शाते है। इसी प्रकार बहुत सारे ऐसे राग हैं, जो मल्हार के संयोग से बना है, उसमें उपरोक्त स्वर-समूह प्रायः आते है, लेकिन ग म रे सा का प्रयोग मल्हार के न तो किसी प्रकार में और न ही मल्हार मिश्रित किसी राग में देखने का मिलते हैं। अंततः हम इस बात पर पहुँचते हैं कि 'ग म रे सा' स्वर-समूह केवल कान्हड़ा का ही अंग सूचक है, क्योंकि यह कान्हड़ा के सभी प्रकारों, कन्हड़ा मिश्रित रागों में मौजूद है। जैसे कि बिलवल का अंगवाचक स्वर बिलवल के प्रकारों में, कल्याण का अंगवाचक स्वर उसके प्रकारों में भैरव का अंगवाचक स्वर-समूह उसके प्रकारों में मौजूद हैं, उस दृष्टि से म ग म रे सा स्वर-समूह मल्हार का अंगवाचक नहीं है। थाट की दृष्टि से शुद्ध ऋषभ के साथ कोमल गंधार काफी थाट का परिचायक है, क्योंकि रागों के समय-सिद्धांत के अनुसार यह ग नि कोमल वाले श्रेणि में आता है। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि मल्हार का कोमल गंधार शुद्ध धैवत के साथ प्रयोग होने के कारण यह काफी थाट की और इंगित करते हैं।[3]

कान्हड़ा के प्रकार भी प्रायः काफी थाट के होते हैं, हाँ केवल वही प्रकार काफी थाट के नहीं होंगे जिनमें धैवत शुद्ध के बजाय कोमल होंगे। जैसे कि कौंसी कान्हड़ा इत्यादि।

राग बहार में ग म रे सा प्रयोग हुआ है, जो काफी थाट का राग है। हरिश्चंद्र श्रीवास्तव जी के वर्णनानुसार राग 'बहार' कान्हड़ा, मल्हार, बागेश्वरी, सारंग का मिश्रित रूप है।[4] बहार में जब साम, ग म ध नि इस प्रकार लिया जाता है तो बागेश्वरी का आभास होता है, नि सां नि प, म प नि प से सारंग का बोध होता है, नि ध नि सां से मल्हार का नि प म ग म से कान्हड़ा और मल्हार दोनों का बोध होता है।

राग बहार में 'ग म रे सा' का प्रयोग थाट की दृष्टि से कान्हड़ा कह सकते है, किंतु इसमें यह स्वर-समूह न तो पूरी तरह से कान्हड़ा और न ही पूरी तरह से मिया मल्हार की तरह लगता है। बहार का कोमल गंधार कान्हड़ा और मल्हार की तरह आंदोलित नहीं है। अंत में हम इस निष्कर्श पर पहुँचते है कि ग म रे सा मूलतः कान्हड़ा का अंग है, जो मियां मल्हार में कान्हड़ांग से दूर रखने के लिये

लगाव का अपना एक अलग ढ़ग रखा जाता है। बहार में भी इसके लगाव का अपना ढ़ग है अतः इसे हम काफी थाट का सूचक कह सकते हैं।

(ग) वर्गीकरण का तीसरा प्रकार- कोमल ऋषभ के साथ शुद्ध गंधार के वक्र प्रयोग पर विचार करें तो यह स्वर-समूह ग म रे सा के रूप में भैरव अंग का सूचक है। यह भैरव अंग को दर्शाते हुये भैरव के बहुत-सारे प्रकारों में प्रयुक्त हुआ है। इसमें कोमल ऋषभ का आंदोलित स्वरूप भैरव अंग को स्पष्ट करते हैं।

राग भैरव के पूर्वांग और उत्तरांग दोनों के अंगवाचक स्वरों से अनेकानेक रागों का निर्माण हुआ हैं। पूर्वांग में कोमल रे और उत्तरांग में कोमल ध का आंदोलन भैरव अंग को स्पष्ट करते है। भैरव के भिन्न-भिन्न प्रकारों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इसके अधिकाधिक प्रकार पूर्वांग के संयोग से बना है। भैरव के पूर्वांग के अंग सूचक ग म रे सा के प्रयोग से जिन रागों का निर्माण हुआ है, उनके नाम इस प्रकार है-

(1) राग रामकली, (2) आनंद भैरव, (3) अहीर भैरव (4) बंगाल भैरव, (5) शिवमत भैरव, (6) भैरव बहार, (7) बसंत भैरव, (8) कौंसी भैरव, (9) हेवित्री, (10) सौरष्ट्र टंक, (11) जंगूला, (12) बसंत मुखारी, (13) हिजाज भैरव, (14) भिन्न भैरव, (15) पीताम्बर भैरव, (16) मांड भैरव, (17) दुर्गा भैरव, (18) नंद भैरव इत्यादि।[5]

भैरव के कुछ पूर्वांग प्रकारों में किसी में गंधार वर्ज्य है तो किसी में गंधार का प्रयोग वक्र न होकर केवल सीध है। जैसे- म ग रे सा। किंतु उपर्युक्त रागों की सूची में जिन रागों को रखा गया है, उनमें प्रयः गंधार का वक्र प्रयोग ही होता है। उपर्युक्त रागों में कुछ ही प्रचलित राग हैं अधिकांश अप्रचलित राग हैं। जैसे- रामकली, अहीर भैरव, आनंद भैरव अत्यधिक प्रचलित है। शिवमत भैरव, बसंत भैरव, भैरव बहार एक अप्रचलित राग है उसके अतिरिक्त बाकी सभी राग काफी अप्रचलित है।

प्रचलित हो या अप्रचलित उपर्युक्त सभी रागों में ग म ग रे सा स्वर-समूह निश्चय ही भैरव अंग स्पष्ट करते है, और इनके द्वारा यह भैरव का एक प्रकार समझा जाता है।

भैरव अंग के इस स्वर-समूह में ऋषभ स्वर न्यासपूर्ण और आंदोलित प्रयोग होते हैं।[6]

## संदर्भः-


1. इन्टरनेट द्वारा।
2. रामरंग, रामाश्रय झा, अभिनव गीतांजलि, भाग-1, 2 एवं 3।
3. सिंह, पं. रामवृक्ष (अपने गुरू) के श्रीमुख से प्राप्त।
4. श्रीवास्तव, हरिश्चन्द्र, राग परिचय।
5. शाह, जयसुखलाल त्रि., भैरव के प्रकार।
6. फीरोजफ्रामजी, भैरव अंक, पृष्ठ-84-90।

# पं. निखिल बनर्जी एवं उनकी वादन शैली

**रामचन्द्र पासवान**

पं. निखिल बनर्जी का जन्म 14 अक्टूबर 1931 ई0 को हुआ। आपने उस्ताद अलाउद्दीन खाँ से सितार की शिक्षा प्राप्त की।

कम उम्र में ही उनके पिता सितार वादक श्री जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने उनके सितार की शिक्षा देना शुरू की। बाल्यकाल से ही निखिल जी गम्भीर प्रकृति के थे। कम उम्र में ही अपने ''ऑल बंगाल सितार रिसाइटल' में अपना सितार वादन पेशकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा प्रसिद्ध सरोद वादक राधिका मोहन मोइत्र से प्राप्त हुई। निखिल जी के निवास स्थान के पास ही विलायत खाँ का निवास स्थान था। उनके निरन्तर रियाज का प्रभाव निखिल जी पर पड़ा। इसके अतिरिक्त मुश्ताक अली खाँ से भी उन्होंने कुछ समय तक शिक्षा ग्रहण की।

चौदह वर्ष की अल्प आयु में निखिल जी बाबा अलाउद्दीन के पास आ गये। यहाँ उन्हें कठोर बन्धन, निरन्तर रियाज और राग ध्यान का पालन करना पड़ा। मैहर मे वे सात वर्ष संगीत साधना में लीन रहे। पूर्णतया सांगीतिक वातावरण ने उनकी प्रतिभा को और मुखरित कर दिया। श्रीमती अन्नपूर्ण देवी से उनको संगीत माता क समान वात्सल्य मिला।

मैहर से शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् निखिल जी ने ''तानसेन संगीत-सम्मेलन में भाग लिया, परन्तु इस बीच आपकी संगीत शिक्षा जारी रही। इसके उपरान्त आपने लखनऊ में भातखण्डे कॉलेज के सरोद शिक्षक सुप्रभात पाल से भी संगीत शिक्षा ली।

1955 से उन्होंने विदेशों में कार्यक्रम देने प्रारम्भ किये। अमेरिका, इग्लैण्ड पश्चिम यूरोपीय देशों में उन्होंने बराबर कार्यक्रम दिये। रूस, फ्रांस, चीन, आस्ट्रेलिया, अफगानिस्तान, नेपाल की उन्होंने यात्रा की। अमेरिकन सोसायटी फार ईस्टर्न आर्ट्स में शिक्षक होकर वे अमेरिका भी गये। इसके अतिरिक्त ''अली अकबर कॉलेज ऑफ म्यूजिक'' कैलीफोर्निया में भी उन्होंने शिक्षक का पद सम्भाला।

इनकी वादन शैली में इनके घराने की अनेक विशेषताओं के साथ-साथ इनकी कुछ निजी विशेषताएँ भी प्राप्त होती हैं।

आपके वादन में गहन आध्यात्मिकता, मननशीलता और सेनिया घराने के गुण थे, जैसे- सुडौलता, निपुणता, तन्त्रकारिता में विलम्बित ख्याल का मन्द्रपवेश तथा तान तोड़ो में अमीर खां का वैशिष्ट्य-मेरुदण्ड का प्रसार था।

इनके वादन में गंभीर आलाप, राग का सुनियोजित विस्तार लरज व खरज के तारों के वादन एवं सितार की दीर्घ आवाज आदि प्रमुख तत्व हैं। पं. निखिल बनर्जी के वादन में बीन अंग के प्रयोग के साथ-साथ गायकी अंग का भी प्रयोग होता है एवं आलाप, जोड़- झाले का काम ये विशेष रूप से दिखते हैं। सितार वादन में ये गत आरम्भ करके ख्याल अंग की तरह ही बीच में आलाप लेने की विधि का पालन करते हैं। इसके अतिरिक्त जटिल लयकारियों व पलटों का प्रयोग एवं मिजराब के बोलों को काटना इनकी वादन शैली की एक विशेषता है। इनकी वादन शैली की एक अन्य विशेषता इनके बाज का सुरीलापन है। जिसे वे लय के जटिल से जटिल तथा अति द्रुत लय में भी कायम रखने की निपुणता रखते हैं। स्वयं की नई-नई रचनाओं की उपज, लयकारी और ताल में मिलाने की रीति इनकी मौलिक विशेषता है। विलम्बित स्वरों का आलाप, जोड़, तान, तोड़े एवं तैयारी आदि में ये अद्वितीय हैं।

शोध छात्र वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि., दरभंगा

पं. निखिल बनर्जी जी की तान में सुर है, तान में ही राग की रंजकता है, एक विन्यास के एक तान को दो बार नहीं बजाना चाहिए। स्वर सौन्दर्य का प्रदर्शन और टोन का वैशिष्टय उनका अपना था।

आपके सुर एवं छन्द के मेल से ऐसा चलन बनता था, जिसे अलग नहीं किया जा सकता था। बोल अंग का काम, गमक, लड़लपेट, लड़गुथाव एवं तानकारी इत्यादि सभी कुछ एक विशेष सुरकल्पना का अंग था। तान की क्षमता दिखाने के लिए वे तानबाजी नहीं करते थे। तानकाम में तो उनका असाधारण कलाबोध था ही द्रुततान का प्रदर्शन भी प्रयोजनीयता के लिए ही करते थे। आपके पदविस्तार या स्वरविस्तार की प्रकृति में द्विमुखी भाव था। सम्भवतः इसी कारण पं. निखिल बनर्जी अपनी सितार में चार या पाँच नम्बर का तार प्रयोग में लाते थे तथा खुली जवारी के स्थान पर बंदजवारी रखते थे, जिससे स्वर गंभीरता बढ़ती थी।

आपके वादन में सृजनशीलता तथा नवीनता का पुट था। यद्यपि पं. रविशंकर आपके गुरु भाई थे।, परन्तु निखिल जी की सितार वादन शैली उनसे भिन्न थी। इन्होंने अपनी एक विशिष्ट आश्चर्यजनक वादन शैली निर्मित की थी जिससे उनके दार्शनिक स्वभाव का प्रत्यक्ष आभास होता था। आलाप, बोल-बाँट, लयकारी, उपज सभी में निखिल जी ने एक नया दृष्टिकोण अपनाया।

पं. निखिल बनर्जी ही सम्भवतः सितार पर मेरुदण्ड-तान के प्रवर्तक और वाहक थे। आपकी तानक्रिया में वैचित्र्य और वैशिष्ट्य था। आपके वादन में रविशंकर और विलायत खाँ की शैलियों का मिश्रण माना जाता है। साथ ही यह भी सत्य है कि निखिल दा स्वयं एक विशिष्ट शैली के स्तम्भ थे। सुन्दर राग, सुविन्यस्तध्यान, गम्भीर तन्त्रकारी एवं तालवैचित्र्य का प्रदर्शन उन्हें उच्चतर आसन पर ले जाता था।

निखिल बनर्जी ने अपनी वादन शैली तैयार कीं उसका वैशिष्ट्य था- रागालाप जिसमें राग का रूप व्यक्तिगत किन्तु मर्मस्पर्शी दृष्टि से परिवेशित होता था उनकी मेरुदण्ड प्रणाली के प्रयोग से राग के पदों का नित्य नया रूप मिलता था एवं आरोही-अवरोही, स्वर समष्टि के सुनदर समन्वय से एक से अन्य अंश का घनिष्ठ संयोग था। जोड़ का काम मध्यलय से एक में करते थे। आलाप में जो पद विस्तार और स्वर प्रगति थी, उससे जो मूर्ति बनती, उसी श्रेणी में जोड़ का काम चलता।

उन्हें मध्यम वादी वाले राग बजाने बहुत प्रिय थे। मालकौंश, जौनपुरी, कौंशी कान्हाड़ा, हेमन्त जैसे राग उनके सितार पर मूर्त हो उठते थे। उनके द्वारा बजाए हुए रागों के रिकार्ड हैं- मलुहा-केदार, हेमललित, बाउल, मिश्रगारा, जौनपुरी, ललित, सिंध भैरवी, मांड, पूरिया, कल्याण, मेघ, भटियार सोहनी, सिंधूरा,आडाणा इत्यादि।

आपके वादन की प्रशंसा में पं. रविशंकर ने लिखा है 'निखिल के वान में मीड़ अंग की तान अन्यतम था तथा वान का एक अलग ही रूप था जिसमें समग्र माधुर्य था और सौन्दर्यतत्व लुप्त नहीं होता था।''[1]

वे सरल प्रकृति के थे, उनके व्यक्तित्व में सम्पूर्ण कलाकार के दर्शन होते हैं। उनके अनुसार संगीत और दर्शन एक-दूसरे के पूरक थे। उन्हें बंगला गान बहुतप्रिय था।

''जब निखिल बनर्जी बाबा से सीख कर आये तो उनके मन में ऐसा विचार आया कि वो स्वयं को रविशंकर व अली अकबर खाँ से कैसे अलग कर सकें। इन्हीं कारणों से प्रारम्भ से ही वे ध्यान देने लगे इन्हें शुरू से ही स्वर प्रस्तार, सरगम, पलटो का अथक अभ्यास किया। आपकी बहन उस्ताद अमीर खाँ की शागिर्द/शिष्या थीं अंतः इन्हीं कारणों से आपका उस्ताद अमीर खाँ से मिलना सम्भव हो पाता था। आप उनके रियाज की शैली तथा विषय सामग्री से प्रभावित थे तथा आप उनका अनुसरण भी करते थे तथा रवीन्द्रनाथ जी आपके आदर्श में थे। आपके वादन में आध्यात्मिकता का आभास होता था। जब आप रागों को बजाते थे तो उसके पहले आप रागों का आवाहन करते, ये क्रिया ठीक वैसे ही है, जैसे हम ईश्वर पूजन के समय करते हैं।''

ज्ञानप्रकाश घोष के अनुसार- निखिल बनर्जी अमीर खाँ के बहुत बड़े भक्त थे और उन्होंने स्वर प्रस्तार एवं ताल, सुरछन्द, विन्यास एवं अलंकरण का पं. निखिल बनर्जी के वादन में परिलक्षित होता था।[2]

# संगीत चिकित्सा क्षेत्र में व्यवसाय की संभावनाऐं

**डॉ. नीतू गुप्ता**

संगीत सुकून है, चैन भी है संगीत।
संगीत शान्ति है व कई मर्ज़ की
दवा भी है संगीत।।

ललित कलाओ के अन्तर्गत संगीत कला सर्वश्रेष्ठ कला है। संगीत कला वह कला है जो अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान करने का सशक्त माध्यम है। 'संगीत' एक 'कला' है व 'चिकित्सा' एक 'विज्ञान'। कला एवं विज्ञान का समन्वय, जहां से संगीत चिकित्सा का प्रचलन प्रारम्भ होता है। संगीत जीवन के सुख दुःख भावों की सबल, सफल आरै सर्वाधिक अभिव्यक्ति भी है।

संगीत का मानव जीवन के साथ संबंध केवल भावात्मक, मनोरंजनात्मक एवं आध्यात्मिक रूप तक ही सीमित नहीं रहा वरन् चिकित्सा के क्षेत्र में भी इसका हस्तक्षेप अतुलनीय रहा है। प्रश्न उठता है कि संगीत चिकित्सा क्या है? संगीत में निहित ध्वनि के विभिन्न स्वरूपों में आकर्षक ध्वनियों से रचित संगीत का सीधा संबंध मानव मन के सूक्ष्म एवं कोमल संवेगों से है। ध्वनि तरंगें दुखित व्यक्ति को अपने संवेगात्मक प्रभाव से विशेष रूप से आकर्षित करती है। इस प्रकार विशिष्ट ध्वनियों के मिश्रण से निर्मित संगीत विभिन्न प्रकार के भावों का निर्माण कर मानव मन व शरीर पर गंभीर प्रभाव डालता है, इस प्रभावोत्पादक क्षमता का प्रयोग जब चिकित्सा के रूप में शारीरिक एवं मानसिक संतुलन को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से किया जाता है तो यह प्रभावात्मक प्रक्रिया संगीत चिकित्सा (Music Therapy) कहलाती है।

वर्तमान संघर्षमय, भागदौड़, प्रतिस्पर्धात्मक युग में काम से बोझिल उदासीन तनावयुक्त जीवन में संगीत संजीवनी औषधि है, जो व्यक्ति में सकारात्मक ऊर्जा का संचार कर विकासोन्मुख स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का मार्ग प्रशस्त करती है। संगीत चिकित्सा का आज ही नहीं वरन् प्राचीन समय से ही इसके विभिन्न प्रयोगों के प्रमाण प्राप्त होते हैं। संगीत, योग प्रक्रिया का भी एक प्रकार है और प्राचीन समय से ही कई रोगों को दूर करने में विभिन्न राग-रागिनियों को प्रयोग में लाया जाता रहा है व आज भी संगीत चिकित्सा जगत मे कई प्रकार के अनुसंधान, शोध, अनुप्रयोग हो रहे हैं, जिसके उचित व प्रत्यक्ष परिणाम भी सामने आ रहे हैं, क्योंकि संगीत का संबंध मनोभावों से है तथा मनुष्य की समस्त शारीरिक क्रियाएं मन से जुड़ी हैं।

भारतीय संगीत का प्रेरणा और प्राण शक्ति की क्षमता को पहचान कर पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताऐं भी भारतीय दर्शन की पुष्टि करने लगी है। एलोपैथी, होम्योपैथी, बायोकेमि, नैचुरोपैथी, एक्यूप्रेशर आदि चिकित्सा पद्धतियों की तरह पश्चिमी देशों में भी संगीत से रोगों के उपचार की विधि खोज ली गई है व उसका सफलतापूर्वक प्रयोग भी आज बहुतायत से किया जाने लगा है। संगीत की अपरिमित प्रयोगात्मक शक्ति उसकी व्यापकता एवं प्रभावोत्पादकता की नींव जितनी सुदृढ़ है उतना ही व्यवसाय की संभावनाओं से परिपूरित भी है। डॉ0 कविता चक्रवर्ती के अनुसार - ''मनोवैज्ञानिकों का ऐसा विश्वास है कि संगीत में अच्छी औषधियों के

असिस्टेन्ट प्रोफेसर (सितार), संगीत विभाग, डी0 ई0 आई0, दयालबाग़ आगरा- 5

मुकाबले रोग विनाशक गुण हैं। ''अतः आज संगीत चिकित्सा एवं संगीत दोनों का समन्वित रूप व्यवसाय के क्षेत्र में नई संभावनाऐं विकसित कर सकता है। वर्तमान में संगीत चिकित्सा प्रत्येक क्षेत्र में उपलब्ध है व संगीत का प्रयोग समस्त प्राणियों के रोग निवारण में, जीव-जन्तुओं, पेड़- पौधों पर अपना स्वास्थ्यवर्धन प्रभाव उत्पन्न कर लाभ प्रदान करती है। इस क्षेत्र में भारत के साथ विदेशों में भी संगीत चिकित्सा द्वारा व्यवसाय हमारे देश की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध है जैसे कि चीन में एक नई इलैक्ट्रोथेरेपी (संगीत विद्यतु चिकित्सा पद्धति का) प्रयोग प्रारम्भ हो चुका है। इस पद्धति में एक्यूप्रेार बिंदुओं के बीच विद्यतु प्रभावित की जाती है व रोगी को संगीत भी सुनाया जाता है।

मद्रास के अपोलो अस्पताल में संगीत चिकित्सा विभाग है, जिसमे संगीत चिकित्सा दी जाती है। इसके अतिरिक्त एक वर्ष का Advanced Level Music Therapy Course भी चलाया जाता है। संगीत चिकित्सा पद्धति के विकास यात्रा पर हम दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि व्यवसाय के क्षेत्र में जैसे- Hospitals, General Psychiatric, Schools, Out Patient Clinics, Mental Health Centre, Nursing Homes, Day Centers, Music Therapy Trust (Delhi), Music Therapy Centre (Mumbai), Sampoorna Music Therapy Centre ( Banglore), Correctional Facilities, Hospices के अलावा अन्य क्षेत्र में संभावनाएं हो सकती है। जर्मनी के डॉ0 राल्फ स्टिटगे द्वारा चिकित्सालय में नई दिल्ली में स्थित 'शक्ति विकास प्रकल्प' के संस्थापक व अध्यक्ष द्वारा इन्स्टीट्यूट ऑफ मेन्टल हेल्थ आदि जैसे संस्थानो को विकसित किया गया। इस प्रकार के अन्य कई संस्थान भी खोले गये हैं।

निश्चय ही संगीत में वह अलौकिक अद्भुत क्षमता है जिसके प्रभाव से कल्पना, सृजनशीलता तथा रचनात्मकता बढ़ती है जीवन का दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता है। इतना कुछ होने के बावजूद भी संगीत चिकित्सा को व्यवसाय के क्षेत्र में उतनी सफलता नहीं मिली जितनी मिलनी चाहिए। आज आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि लोगों को जागृत किया जाय, लोगों को संगीत चिकित्सा पद्धति के बारे मे जानकारी दी जाय, समझाया जाय, संगीत के महत्व को बताया जाय तो निश्चय ही इस दिशा में व्यवसाय की संभावनाएं और अधिक विकसित हो जायेगी व स्वस्थ सुदृढ़ समाज का निर्माण हो सकेगा व लोगों को अधिक से अधिक व्यवसाय भी प्राप्त हो सकेगा। इस क्षेत्र में अभी भी शोध संभावनाऐं अभी किया जाना आवश्यक है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ-


1. इंटरनेट से प्राप्त जानकारी।
2. भारतीय संगीत की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि - डॉ0 कविता चक्रवर्ती
3. छायानट पत्रिका - जुलाई से सितम्बर, 2006
4. संगीत पत्रिका - अप्रैल , 1988
5. संगीत चिकित्सा - डॉ0 सतीश वर्मा
6. संगीत चिकित्सा महत्वपूर्ण जानकारी - डॉ0 भास्कर राव खांडेकर
7. संगीत कलाविहार - मई 2005

# संगीत में रस के आवश्यक तत्व

**डॉ. आभा कुमारी**

संगीत द्वारा रसाभिव्यक्ति में शास्त्रीय राग गायन का विशेष महत्व है, क्योंकि संगीतज्ञ परिस्थितियों के अनुकूल राग चुनकर श्रोताओं को भिन्न-भिन्न भावों के सागर में डुबो देता है। रंजकता और भावों को उद्दीप्त करने के साथ ही आध्यात्मिकता की ओर भी उन्मुख करता है। संगीत के सम्बन्ध में जो भी संगीत द्वारा रस की प्राप्ति होती है वह रस तो एक ही होता है पर पूरी बंदिश में तानों, गमकों, लय, मींड, आलाप, यानि कि राग की हर क्रिया में भिन्न-भिन्न रसों का तिरोभाव, आविर्भाव हुआ करता है।

रस का विषय अनिवार्यता मनोवैज्ञानिक है, भौतिक नहीं है। मानव के मन पर किसी एक विशेष स्वर का क्या प्रभाव पड़ता है, इस सम्बन्ध में सभी विद्वानों ने रस की चर्चा करते समय मनोविज्ञान की शरण ली है। मानव की ऐसी प्रवृत्तियाँ जिनको प्रकृति ने मानव की सारी प्रकृति में सन्निविष्ट कर रखा है। मूल प्रवृत्तियाँ कहलाती हैं तथा प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के साथ एक भाव जुड़ा रहता है और प्रत्येक भाव के साथ कोई न कोई रस। भरत ने रस का सारा ढाँचा मूल प्रवृत्तियों के आधार पर बनाया है, उन्होंने नाट्यशास्त्र के माध्यम से मानव की मूल प्रवृत्तियों, उनसे जुड़े स्थायी भावों को जीवन के अभिनयात्मक धरातल पर लाकर रस सिद्धान्त और वर्गीकरण का प्रतिपादन किया है।

1. स्वरः-

शास्त्रीय गीत में मुख्यतः श्रृंगार, करूण, वीर और शान्त रसों का समावेश होता है। भरत ने नाट्यशास्त्र में स्वरों का विविध रसों में सम्बन्ध बताया है। उन्होंने निर्देश दिया है-

षड्ज ऋषभ में वीर रौद्र
गंधार, निषाद में करूण।
मध्यम, पंचम में हास्य
धैवत में वीभत्स-भयानक।।

प्रत्येक स्वर का अपना विशिष्ट रस होता है। नाट्य शास्त्र में विभिन्न है। हास्य, श्रृंगार के लिये स्वरित और उदात्त, वीर, रौद्र तथा अद्भुत के लिये उदात्त कम्पित, करूण, वात्सल्य, भयानक के लिए उदात्त स्वरित और कंपित का प्रयोग करना चाहिये-

तत्र हास्य श्रृंगारयोः स्वरितोदात्तैः
वीर रौद्राद्भतेषु उदात्त कम्पितैः।
करूण वात्सल्य भयानकेषुदात्त स्वरित
कम्पितैः वणैरूपादपेत इतिः।।

भरत ने स्वरों को ही वर्ण कहा है, नाट्यशास्त्र में इन स्वरों के साथ रसाभिव्यक्ति के लिये भरत ने काकुभेद प्रयोग की आवश्यकता माना है। भरत के मतानुसारः-

स्वरों के साथ सम्बन्धित रस तथा स्थायी भाव इस प्रकार हैः-

| स्वर | रस | स्थायी भाव |
|---|---|---|
| षड्ज | वीर, अद्भुत, रौद्र | उत्साह, विस्मय |
| ऋषभ | वीर, अद्भुत, रौद्र | उत्साह,विस्मय,क्रोध |
| गन्धार | करूण | शोक |
| मध्यम | श्रृंगार, हास्य | रति, हास |
| पंचम | श्रृंगार, हास्य | रति, हास |
| धैवत | वीभत्स, भयानक | भय, जुगुप्सा |
| निषाद | करूण | शोक |

पूर्व शोध छात्रा, वि0 वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग ल0 ना0 मि0 वि0, दरभंगा

यही स्वर जब जातियों में अंश स्वर बनते हैं, तो उस जाति से निर्धारित रस भाव की ही प्राप्ति होती है। जैसे यदि अंश स्वर षड्ज है तो वीर, अद्भुत, आदि मध्यम या पंचम होने पर श्रृंगार अथवा गान्धार या निषाद होने पर करूण रस को अभिव्यक्त करते है। यह अंश स्वर ही जाति का प्रारम्भिक स्वर होने के कारण मूल रस का आधार भी बनता है।

संगीत रत्नाकर की व्याख्या करते हुए टीकाकार कल्लिनाथ का कथन है रंजक स्वरसन्दर्भो गीतर्मित्यभिध ीयते अर्थात् प्रीतिकर स्वर सन्दर्भ का नाम गीत है। पतंजलि के अनुसार स्वर वह है जो 'स्वयं शोभित होते है।' 'स्वयं राजन्ते इति स्वरः' शारंगदेव ने इसी का पल्लवन करते हुये लिखा है; ''स्वतो रज्जयति श्रोतृचित स स्वर उच्चये'' अर्थात् जो अपने सहज स्वरूप से ही श्रोता के चित का अनुरंजन करता है, उसे स्वर कहते हैं। स्वर सौन्दर्य के प्रतीक गीत के मूर्त रूप का निर्माण स्वरव्यंजन, वर्ण, सन्धि, छन्द आदि तत्वों से होता है और यह स्वर सौन्दर्य राग-रागनियों के माध्यम से अनेक रूप धारण करता हैं संगीत का आधार है स्वर सौन्दर्य जिसका मूर्त रूप ही गीत बन्ध या राग गीत नादात्मक है।

गीतबन्ध या राग की आत्मा रस ही है इसलिये सभी आचार्यों ने विशेष रसों के साथ विभिन्न स्वरों के व्यंजक-व्यंजक सम्बन्ध की चर्चा की है भरत ने स्पष्ट लिखा है कि जिस जाति का अंश स्वर जिस राग का पोषक हो, उस रस के परिपोष के लिये उसी जाति का गान किया जाना चाहिये।

संगीत रत्नाकर में भी लिखा है-

सरोवीरेऽद्भुते रौद्रे धो वीभत्से भयानके
कायो ग नी तु करूणे हास्यश्रृंगारयोरपि।

इसको स्पष्ट करते हुये सिंहभूपाल ने अपनी 'सुधाकर' टीका में लिखा है-

षड्जर्षभौ वीराद्भुतरौद्रेषुः धैवतो
वीभत्स भयानकयोः
गांधार निषादौ करूणे,
मध्यम पंचगों हास्य श्रृंगारयोरिति।

अर्थात् षड्ज और ऋषभ का प्रयोग का प्रयोग वीर, अद्भुत और रौद्र में, धैवत का वीभत्स और भयानक में, गांधार तथा निषाद का करूण में और माध्यम एवं पंचम का हास्य तथा श्रृंगार में प्रयोग करना चाहिये।

उपरोक्त रस सिद्धान्तों में केवल शुद्ध स्वरों का संदर्भ है, आज पाँच विकृत स्वर भी संगीत में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, अतः आज यह सिद्धांत अक्षरशः लागू होना इस दृष्टिकोण से असंभव है। शुद्ध स्वरों द्वारा शान्त रस, (जैसे बिलवल, केदार एवं कल्याण अंग) विकृत स्वरों द्वारा अन्य रस की उत्पत्ति होती है जैसे दरबारी कान्हड़ा में कोमल गंध ार वात्सल्य रस, हिंडोल, शंकरा, मालकौंस, सारंग आदि हृदय में वीरता, उत्साह का संचार करते हैं, बहार, बागेश्वरी आदि से हृदय में अनुराग उत्पन्न होता है और ये श्रृंगार रस उत्पन्न करते हैं। शोक प्रधान करूण रस भी संगीत की विशिष्ट अनुभूति देता है। रस की यही सबसे बड़ी विशेषता है। पीलू की लोकप्रिय ठुमरी ''पीऊ की बोली न बोल'' के साथ भले ही विरहणि की टीस मुखरित होती है, पर रसात्मक अलौकिक आनन्द भी प्राप्त होता है। जोगिया, पीलू, तोड़ी, श्री आदि रागों से हृदय में दया, दुःख करूण का भाव उत्पन्न होता है।

### 2. बंदिश द्वारा रस :-

एक ही राग के बंदिश द्वारा रस बदलता है जैसेः-

(अ) श्याम कल्याण में बंदिशों द्वारा विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति वात्सलय

वात्सलय रसः-

खेलत आंगन नंद लाल
चंचल शरण चपल पड़े
बेहाल हो ललना।

श्रृंगार रसः-

पायल मोरी बाजे रे सजना
कैसे आँऊ तेरे मंदरवा।

भक्तिपूर्णः-

जाने दे री मोहे श्याम सुन्दर
मिलन की सूरत लागी।

(ब) राग जयजयवन्ती
श्रृंगार रसः-

ऐरी आज पिया अपने संग
खेलोगी होरी।

भक्तिपूर्ण बंदिशः-

जय माल रानी तू मान मानी
विद्या सरस्वती बैकुंठ की निशानी।

स्पष्टतः जब एक ही राग में भक्ति, श्रृंगार, संगीत और वियोग की बंदिशें मिले तब उस राग को किसी रस की विशेष सीमा में बाँधना कठिन होगा। मात्र स्वरों के अतिरिक्त श्रुतियों, मींड़ गमक और कलाकार अपनी कलात्मक कल्पना की सहायता से राग में रसाभिव्यक्ति करता है, अतः रागों का रस निर्धारण संभव नहीं प्रतीत होता।

राग मालकंसः-

श्रृंगार : मुख मोड़-मोड़ मुस्कात जात।
वीर : भेरी बजी संग्राम की।
करूण : हम खोज-खोज गये हार।

बंदिशों के साथ-साथ रागों का स्वरूप, रस वस्तुतः काकुभेद, स्वरों के उतार-चढ़ाव, गायक द्वारा उभरता है। कलाकार, अपने चातुर्य और कुशलता से सृष्टि करता है। उदाहरण के लिये अड़ाना, आभोगी, आसावरी, काफी, कौंसी कान्हड़ा, गौड़ मल्हार, चन्द्रकौंस, जौनपुरी, दरबारी कान्हड़ा, बागेश्री, भीमपलासी, मालकंस इन सभी रागों में कोमल गंधाार और निषाद का प्रयोग होता है। परन्तु इन सभी रागों का अपना अलग-अलग रस है, क्योंकि कलाकर अपनी कलात्मक प्रतिभा से इन्हीं दो स्वरों को प्रत्येक राग में अलग-अलग ढंग से प्रस्तुत करता है, कि उनका भाव रंग ही बदल जाता है। जिस प्रकार भूपाली-देशकार के स्वरों में समानता है, पर प्रस्तुतिकरण-स्वर लगाव से दोनों रागों का रस रूप भिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार एक ही राग में भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा उस एक ही राग में भिन्न-भिन्न रसों की अभिव्यक्ति होती है।

रागों के विभिन्न अंग अल्पत्व, बहुत्व, न्यास, अपन्यास, गमक आदि रस परिपाक में सहायक होते हैं। गमक जहाँ राग को ओज और गति प्रदान करती है वहाँ अल्पतत्व-बहुत न्यास आदि राग के रस में मिठास घोल देते हैं।

### 3. तालों द्वारा रसः-

संगीत में रसाभिव्यक्ति के तत्वों में ताल-विलम्बित लय-मध्य लय, द्रुत लय आदि ताल के विशिष्ट वर्ण, आदि का महत्वपूर्ण स्थान है, उसमें संगीत में गंभीरता अथवा चंचलता का आविर्भाव किया जा सकता है। कुछ तालें इस प्रकार हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न रसों की अवतारणा होती हैः-

दादरा : वीभत्स रस
कहरवा : श्रृंगार रस
एकताल, धमार : श्रृंगार एवं अन्य रस
चौताल-आड़ा चारताल : वीर रस

कुछ वाद्य विशेष रूप से किसी विशिष्ट रस की अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं, जैसेः-

सारंगी, वायलिन : करूण रस
ढोलक, तबला : श्रृंगार रस
मृदंग, पखावज : वीर रस
वाद्य वृन्द : श्रृंगार, करूण आदि।

विविध वाद्यों द्वारा ध्वनि संयोजन से विशिष्ट रस की निष्पत्ति की जाती है।

### 4. शैली द्वारा रसः-

मानव मन के सूक्ष्म भावों को संगीत में विभिन्न शैलियों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। ध्रुपद को वीर, करूण, शांत, अद्भुत रस के लिये सक्षम माना गया है ख्याल के शब्द श्रृंगार रस प्रधान होने के कारण श्रृंगार, अद्भुत आदि अनेक रसों की अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त है। ठुमरी मुख्यतः श्रृंगार रस प्रधान ही होता है। खट राग, अद्भुत रस के प्रतीक हैं।

### 5. लय द्वारा रसः-

रस निर्धारण में विभिन्न लयों का अवश्य महत्व है। शान्त स्थिति के लिये विलम्बित लय में ध्रुपद शांत, भक्ति, करूण और श्रृंगार रसों की अभिव्यक्ति करता है। ध्रुपद द्रुत ताल में अर्थात् सूलफाक्ता, ब्रह्मा, गणेश, लक्ष्मी आदि तालों के साथ वीर, अद्भुत

रौद्र तथा भक्ति रसों की अभिव्यक्ति करता है। इसी प्रकार विलंबित ख्याल, विलंबित ध्रुपद की भाँति रसाभिव्यक्ति करते हैं। रस निष्पत्ति में लय का अपना महत्व है। मन की भी एक लय होती है, जिसके अनुसार वह भाव ग्रहण करता है। संगीत की लय, बंदिश की प्रकृति, राग के स्वभाव के अनुसार परस्पर तालमेल होने पर लय विशेष से रस की निष्पत्ति होगी। ''आओ'' शब्द की आज्ञा, अनुरोध ा बोल'' बंदिश को यदि द्रुत लय में प्रस्तुत किया जाये तो विरहणी नायिका के भावों की अभिव्यक्ति कैसी होगी। रागों की प्रकृति शब्दों के अनुसार लय ही रसाभिव्यक्ति कर सकती है। बंदिश तथा राग में समन्वय होना चाहिये। सौन्दर्यशास्त्र के अपने अलग नियम है, जिनके पालन से ही रसानुभूति संभव है।

## 6. रागों की प्रकृति और उनके प्रभावः-

रागों की प्रकृति और उनके प्रभाव को भी रास निष्पत्ति में अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पीलू पहाड़ी, काफी, देश, समाज में ध्रुपद की बंदिशें नहीं मिलती, दरबारी, मालकंस, भैरव जैसे रागों में ठुमरी नहीं सुनाई पड़ती, जिससे स्पष्ट है कि रागों की प्रकृति के अनुसार ही विशेष शैलियों के प्रति उनका अनुरूपता निर्धारित की गई है, और उन्हीं शैलियों के अनुरूप रागों से विशिष्ट रस की सिद्धि होती है।

## राग का समय सिद्धान्तः-

हिन्दुस्तानी संगीत में रागों का समय सिद्धान्त भी रसानुभूति का वातावरण बनाता है आज भी हम रागों के समय सिद्धांत की अवहेलना नहीं कर सकते। रात्रि में तोड़ी, ललित, भैरव और प्रातःकाल में दरबारी मालकंस गाने बजाने को आज भी मान्यता नहीं प्राप्त है। मध्यकालीन कृष्ण ललित, बिलावल में मिलते हैं तो मध्यकालीन पद सारंग, भीमपलासी और रात्रिगेय पद मालकंस दरबारी आदि में बाँधे गए हैं।

## यथा भावना तथा रसोत्पत्तिः-

भावना से सम्बन्धित होने पर संगीत में अभिव्यक्ति का माध्यम ध्वनि हैं संगीत में बिना शब्द की सहयता के भाव और रस की निष्पत्ति भी हो जाती हे, क्योंकि, संगीत के नाद में ही इतनी शक्ति होती है कि वह किसी भाव या रस की निष्पत्ति करा देती है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने अपनी पुस्तक 'ध्वन्यालोक' में इन तथ्यासें का भली प्रकार विवेचन किया है। आचार्य कैलाश चन्द्र देव बृहस्पति जी के अनुसार ''भाषा भले ही कभी-कभी मनोभावों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो जाये पर नाद कभी असफल नहीं होता। कालिदास के मूल काव्य का आनन्द संस्कृत न पढ़ने वाला व्यक्ति को होता है। इसीलिये संगीतज्ञ के लिये आवश्यक है कि वह नादोत्पन्न आनन्द उत्पन करने में सामर्थ्यवान हो। लगभग 1330 वर्ष पूर्व किसी संगीतज्ञ कवि ने बहुत ही सुन्दर ढंग से नाद की महिमा का वर्णन किया है।

नादाब्धेः पर तारं जानति सरस्वती
मज्जन मयात् अद्यापि तुंबं बहति वक्षसि

'भगवान और संतों के ऊपर मेरा अटल विश्वास है, अगर ईश्वर का अस्तित्व हर जगह है तो स्वरों में भी है स्वर उनके भगवान है, आराध्य है। उनके अनुसार हमें व्यर्थ आगे नहीं बढ़ना है, अपनी परम्परा से जुड़े रहना है, सात सुर के आठ तो नहीं हो सकते, हर एक को स्वर दृष्टि से देखना समझाना, यही प्रगति है। उदाहरणार्थ केदार और यमन के षड्ज में बहुत अन्तर है पर इसे समझने वाले कितने लोग है। वे सौन्दर्य के उपासक हैं और उनका संगीत सौन्दर्य का ही माध्यम है। वे सौन्दर्य के उपासक हैं और उनका संगीत सौन्दर्य का ही माध यम है। वे सबसे पहले भाव की प्रधानता देती है, फिर राग को। भाव को सजाने के लिये शास्त्र की आवश्यकता है। संगीत और काव्य संगीत राग पर आधारित है, राग गेयपद पर और गेयपद एक कला है अतः संगीत कला तथा काव्य एक दूसरे के पूरक हैं, सहयोगी हैं क्योंकि बिना संगीत कला के काव्य कला का कोई महत्व नहीं होता तथा कोई भी गेयपद बिना राग के गा दिया जाये तो कोई रसास्वादन नहीं होता।

संगीत के पास रस निष्पत्ति के पर्याप्त साधन उपादान विद्यमान है। यह हम उनका उचित उपयोग करना चाहें तो भरत से लेकर आधुनिक काल तक विद्वानों ने रस पर चर्चा की है। भरत ने आठ रस

बतलायें तो केवल श्रृंगार को ही रस मानते हैं। अभिनवगुप्त केवल शान्त रस मानते हैं। वास्तव में रसानुभूति के आनन्द से हम चमत्कृत हो जाते हैं, अतः वहीं प्रमुख रस है। पद्मभूषण ठाकुर जयदेव सिंह ने अपने लेख 'राग और रस' में माना है कि हमें चाहिए कि हम पूर्ववर्ती विद्वानों, रस मर्मज्ञों की भाँति भरत से आगे बढ़े और मूल प्रकृति के स्थान पर चित्तवृत्ति को पकड़ें और रस साधना करें। चित्तवृत्तियों की तीन स्थितियों की तीन स्थितियाँ हैं- प्रसाद, ओज और माधुर्य।''

आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृंगारे द्रुतिकारणम्।
समस्त कलाओं में ये तीनों गुण आवश्यक हैं।

चित्रों की स्थिति महत्वपूर्ण है, रस चाहे जो भी हो, हम जो भी नाम दे दें, रस की यह स्थिति। इसी सम्बन्ध में कहा गया है-

सत्वोद्रेकात अखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः
वेद्यान्तस्पर्श शून्यो ब्रह्मानन्द सहोदरः।

यहाँ रस की स्थिति होती है, वहाँ सत्वगुण का उद्रेक होता है और उस स्थिति में तमस-रजस गुण दब जाते हैं। इस सात्विक स्थिति में अखण्डानन्द अद्भुत होता है। रसिक सहृदय ही रस का परिचय पा सकता है- जबकि बुद्धि और हृदय में सुन्दर समन्वय बन जाये-संगीत के मात्र चमत्कार पक्ष से अखण्डानन्द की स्थिति नहीं आ सकती, क्योंकि अखण्डानन्द के लिये आत्मा का प्रकाशमान होना आवश्यक है जिसका अनुभव भीतर ही भीतर किया जाता है। कला वही श्रेष्ठ है जहाँ अन्य किसी चिंतन का स्पर्श न हो, और अन्य किसी चिंतन के स्पर्श से सर्वथा शून्य स्थिति को ही 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा जाता है। ऐसी स्थिति में प्राप्त आनन्द लोकोत्तर है। रसानुभूति के लिये ही लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति संभव है। रस वास्तव में सौन्दर्य शास्त्र का विशिष्ट भारतीय प्रमेय है। भारतीय कला चिन्तन का अपना विशिष्ट अन्वेषण रस है। जैसा कि सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी लुई रेनु ने कहा है-

''भारत की प्रतिभा से ज्ञान की जिनती भी शाखाएँ उत्पन्न हुई है, उनमें सौन्दर्यशास्त्र जितने गहरे रूप में भारतीय है उतना कोई और नहीं।''

"Of all the branches of learning which stem for the genius of India, few are as profoundly Indian as Aesthetics."